रामराज्य और मार्क्सवाद

पर

राहुलजीकी भ्रान्ति

❀

श्रीपूज्य स्वामी करपात्रीजी

श्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
संख्या ९६
विषय ३०
आनन्द कुटीर मोतीझील

प्राप्ति-स्थान

धर्मसङ्घ शिक्षा-मण्डल

दुर्गाकुण्ड, वाराणसी।

प्रकाशक :
सन्तशरण वेदान्ती
प्रचारमंत्री
अ० भा० रामराज्य-परिषद्
वाराणसी ।

कार्तिक : २०१६ वि०
प्रथमबार : एक हजार
मूल्य १) रुपया

मुद्रक :
गीताधर्म प्रेस
वाराणसी ।

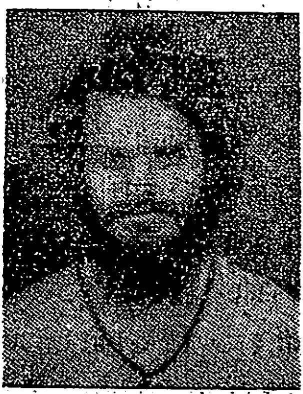

प्रकाशकीय वक्तव्य

राहुलजीकी पुस्तक 'रामराज्य और मार्क्सवाद' प्रकाशित होनेके बाद उसका उत्तर 'सन्मार्ग' में प्रकाशित हुआ। बादमें लोगोंके आग्रहपर पूज्य स्वामीजी महाराजने स्वयं राहुलजीका उत्तर लिखा। यद्यपि राहुलजी के स्तरको देखते हुए स्वामीजी महाराजके लिखनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती रही, किन्तु कुछ लोगोंके आग्रहको देखते हुए, ऐसा अवसर आया कि पूज्य चरणोंके कुछ विचार पुनः रामराज्य-वादियोंको पढ़नेके लिए मिल गये। राहुलजीके परिश्रमका इतना आभार तो हम स्वीकार ही करते हैं।

राहुलजी इस कथनपर कि ८०० पृष्ठकी पुस्तककी छपाई कागज आदिके अनुसार स्वामीजीकी पुस्तकका दाम कोई प्रकाशक ४ रु० नहीं रखता। वह केवल सेठोंकी थैलीका प्रभाव है, इसमें दो बातें ध्यान देनेकी है पहली तो यह कि कार्ल मार्क्सके 'कैपिटल' आदि ग्रन्थोंका दाम तो तौलके

अनुपातसे भी कम रहता है। क्या सर्वहाराको भी किसी थैलीशाहस्त प्राप्त है? साथ ही राहुलजीकी पुस्तकका जितना दाम रखा गया है, वह सर्वथा शोषणका प्रतीक है। उसकी लागत कथमपि उतनी नहीं है। साम्यवाद शोषण और उत्पीड़नका निषेध करता है, इसका प्रमाण उसके प्रकाशनोंसे स्पष्ट हो जाता है। एक ओर कैपिटल जैसे ग्रन्थका दाम अलिखित होते हुए भी ३ रु० है। साथ ही 'लोकायत' जैसे ग्रन्थका दाम २७ रु० से भी अधिक है। क्या उसकी लागत यही है? तात्पर्य हमारा यह कि इस प्रकारकी आलोचनासे मात्र विषयसे ध्यान हटाना छोड़ और कुछ नहीं होता।

इस पुस्तककी बहुत दिनोंसे प्रतीक्षा रही। पूज्यचरणोंके द्वारा पाँडुलिपि प्राप्त हुए लगभग चार मास हो गये, किन्तु विभिन्न कारणोंसे देर हुई विद्वान् पाठक क्षमा करेंगे। हमारा विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तकसे राहुलजीके आक्षेप-निरासके साथ ही अन्य आवश्यक तथ्योंका, जो प्रसंगवश आये हैं, स्पष्टीकरण विद्वानोंके सामने नया निष्कर्ष प्रस्तुत करेगा।

धर्मसंघ-शिक्षामण्डल
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी।
कार्तिक-पूर्णिमा, वि० २०१६

सन्तशरण वेदान्ती
प्रचारमन्त्री
अखिलभारतीय रामराज्य-परिषद्

॥ श्रीहरिः ॥

राहुलजीकी भ्रान्ति

श्रीराहुलजीने 'मार्क्सवाद और रामराज्य' पुस्तककी समालोचनामें 'रामराज्य और मार्क्सवाद' नामक एक पुस्तक लिखी है। कई पत्रोंमें उसके उत्तर भी निकल चुके हैं, पर अभीतक वे मौन हैं। कई सज्जनोंने मुझसे भी इसपर कुछ लिखनेका आग्रह किया है। किन्तु राहुलजीकी पुस्तकमें सिवा निष्प्रमाण मिथ्यारोपके और कोई ऐसे तथ्यपूर्ण विचार ही नहीं है, जिसपर कुछ गम्भीर विचार उठाया जा सके।

आपने अपनी पुस्तकमें यह भी कहा है कि 'संस्कृतके कठिन शब्दोंके कारण (मेरी) पुस्तक पढ़नेमें हिन्दीके पाठकोंको कठिनाई पड़ती है। इससे तो अच्छा होता, पुस्तक संस्कृतमें ही होती। इससे संस्कृतज्ञोंको समझनेमें आसानी होती, दूसरे पाठक व्यर्थके परिश्रमसे बच जाते।' किन्तु राहुलजीकी 'बौद्धदर्शन' आदि हिन्दीकी पुस्तकोंमें भी संस्कृत-शब्दोंकी अधिकता है। यही बात उन्होंने अपनी पुस्तकोंके सम्बंधमें भी क्यों नहीं सोची ? वस्तुतः गम्भीर विषयोंके विवेचनमें कुछ कठिन शब्द आ ही जाते हैं।

राहुलजी भूमिकामें लिखते हैं कि 'स्वामीजी अपने लिखे अनुसार करोड़ों, अरबों वर्ष पुराने जगत्‌के मानव हैं। उस समयके मानव, जब कि शायद पृथ्वी सूर्यपिण्डसे अलग नहीं हुई थी। जो निराकार, निष्क्रमं ब्रह्मके अतिरिक्त सभी वस्तुओंको भ्रम मानता है, उसके लिए यह मान्यता स्वाभाविक ही है।' यह है उनके लेखका नमूना, जिसमें न कोई प्रमाण है और न कोई आधार।

वस्तुतः भारतीय अध्यात्म-शास्त्रोंके अनुसार आत्मरूपसे सभी प्राणी अरबों वर्षोंके ही नहीं, प्रत्युत अनन्तानन्त वर्षों (अनादिकाल) के ही हैं। देहकी दृष्टिसे सभी अनित्य और आगमापायी ही हैं। राहुलजी कई बार अपनेको 'बौद्ध' भी कहते हैं। बौद्धोंके अनुसार भी आलय-विज्ञानधारा (आलय = मोक्षपर्यन्त रहनेवाली), जो आत्मरूप या विज्ञानस्कन्धके रूपमें मान्य है, अनादि ही है। अतएव जिस विकासवादके अनुसार पृथ्वी कभी सूर्यपिण्डसे अलग हुई और 'अमीबा', 'हाइड्रा' आदि क्रमसे जीवोंका विकास हुआ, वह बौद्धोंको भी मान्य नहीं है। संसारकी पूर्वकोटि अनादि है, यह बौद्ध-दार्शनिकोंको भी मान्य है। किन्तु राहुलजी तो बुद्धदेवको भी अपने ग्रन्थमें राजाओं एवं पूँजीपतियोंसे प्रभावित (उनके पिट्ठू) मानते हैं। इसके अतिरिक्त अद्वैतवादी दार्शनिक तो ब्रह्मातिरिक्त सब कुछ भ्रम मानते हैं, किन्तु राहुलजीके परमपूज्य बुद्धने सब कुछ क्षणिक एवं शून्य ही बताया है। इस दृष्टिसे वे जिस बौद्धधर्मके हिमायती हैं, वह सुतरां बीसवीं सदीके योग्य नहीं है। अद्वैतवादी भी व्यावहारिक सत्यरूपमें सब कुछ प्रामाणिक ही मानते हैं। पारमार्थिक दशा या मुक्तिदशामें सर्वप्रपञ्चका

अकिञ्चित्करत्व सभीको स्वीकार्य है। बौद्धोंके क्षणभंगवाद, शून्यवाद की अपेक्षा वैदिकोंके ब्रह्मवादमें व्यावहारिक प्रपञ्चका अस्तित्व महत्त्वपूर्ण ही है।

आगे राहुलजीने श्रीविश्वनाथ-मन्दिरमें हरिजनोंके प्रवेश न करने देनेकी बात भी उठायी है। इसी सम्बन्धमें उन्होंने अपने एक वक्तव्यमें कहा है कि 'मैं भी एक दिन गङ्गास्नान कर गङ्गाजलका लोटा और फूल-माला लेकर विश्वनाथका दर्शन करने गया।' किन्तु क्या राहुलजी-ने यहाँ भी दुनिया और अपनेको धोखा नहीं दिया? जब वे शून्यवादी या क्षणभङ्गवादी बौद्ध हैं या जड़वादी कम्यूनिस्ट, तो उनका विश्वनाथ-मन्दिरसे क्या सम्बन्ध? क्या उन्हें पत्थर-पूजा मान्य है? यदि साम्यवाद-का प्रदर्शन करने गये थे, तो भी गङ्गास्नान और फूल-मालाका नाटक क्यों? फिर तो जूता पहने, सिगरेट पीते, कुत्तेके साथ ही मन्दिर-में जाना चाहिए था। वास्तवमें मूर्तिपूजा एक शास्त्रीय विषय है। मन्दिर-प्रवेशका औचित्य तथा अनौचित्य भी शास्त्रसम्बद्ध है। 'नया विश्वनाथ मन्दिर क्यों?' इस पुस्तकमें इन विषयोंपर पर्याप्त विचार किया जा चुका है।

आगे आपने यह सिद्ध करनेका निष्फल प्रयत्न किया है कि 'जेलके अधिकारी एवं छोटेसे लेकर ऊँचे सरकारी अधिकारी स्वामीजीके साथ रियायत करते हैं। कम्युनिस्टोंको ही दिल्लीके महादेवसे लेकर छोटे-बड़े सभी देव भला-बुरा कहते हैं और समय-समयपर जेलोंमें बन्द करते रहते हैं। हमारे लिए तो केरल और दिल्लीके महादेवोंमें मात्रात्मक भेद भले हो, किन्तु गुणात्मक नहीं।' वस्तुतः दिल्लीके आजके 'महादेव'

सिद्धान्ततः समाजवादी ही हैं। कम्युनिस्टोंसे उनकी लड़ाई सिद्धान्तकी नहीं, शासन हथियाने या रोटीकी लड़ाई है। सिद्धान्तहीन लोगोंकी रोटियोंकी लड़ाई कुत्तोंकी लड़ाईसे अधिक कुछ महत्त्व नहीं रखती। रामराज्यवादीकी कम्युनिस्टों, नये-पुराने सोशलिस्टों और सेक्युलरिस्टों आदिके साथ लड़ाई सिद्धान्तकी दृष्टिसे ही है। कम्युनिस्टोंकी जाल-फरेबकी नीति ही उन्हें जेलोंमें डालती है, और कोई नहीं।

मार्क्सकी रायमें 'कम्युनिस्टोंके हाथ शासनसूत्र न जाकर प्रजातन्त्र-वादियोंके हाथ उसके आनेपर कम्युनिस्टोंको उससे अलग ही रहकर उनके कामोंमें अड़ङ्गा डालते रहना चाहिए। उनके सामने ऐसी शर्तें पेश करनी चाहिए, जिनका मानना असंभव हो। क्रान्तिके अवसरपर श्रमजीवियोंको चाहिए कि वे मध्यम श्रेणीके साथ किसी प्रकारके सम-झौतेका विरोध करें। प्रजातन्त्रवादियोंको अत्याचार करनेके लिए बाध्य करें और उनके अत्याचारोंके उदाहरण देकर लोगोंमें जोश बढ़ाते रहें। बीच-बीचमें अपनी माँग भी पेश करते रहना चाहिए। यदि प्रजातन्त्रवादियोंको सफलता मिली, तो श्रमजीवियोंको सुरक्षाकी गारण्टी माँगनी चाहिए। अधिकाधिक सुधारों और अधिकारोंकी माँग करनी चाहिए। सरकारपर खुले आम अन्धविश्वास प्रकट करना चाहिए, जिससे उनकी विजयका गर्व ठण्डा पड़ जाय। मजदूर-पञ्चायतें बनानी चाहिए। शासनके सामने तरह-तरहकी अड़चनें खड़ी करनी चाहिए। श्रमजीवियोंका सशस्त्र सङ्गठन करना चाहिए। बन सके, तो सरकारी सेनाके लोगोंको अपने पक्षमें कर लेना चाहिए। शासनमें ऐसे अड़ंगे लगाने चाहिए, जिससे उसे चलाना असम्भव हो जाय।'

मार्क्सका आगे कहना है कि 'प्रजातन्त्रवादियोंको प्राचीन सामाजिक प्रणालियोंपर जितना हो सके, आक्रमण करनेके लिए लाचार किया जाय। लोगोंकी निजी जायदादपर आक्रमण करनेवाले प्रस्ताव बार-बार लाये जायँ। यदि सरकार रेलों, कारखानोंको खरीदनेका प्रस्ताव करे, तो बिना हर्जाना दिये, बिना मुआवजा दिये ही उसके राष्ट्रीकरण-का प्रस्ताव करना चाहिए। सम्पत्तिवृद्धिपर इतना बड़ा टैक्स लगाने-का प्रस्ताव करना चाहिए, जिससे बड़ी जायदादवालोंका दिवाला निकल जाय। राज्यका कर्ज चुकानेके समय राज्यके दिवालिया होनेका प्रस्ताव लाना चाहिए।' वस्तुतः कम्युनिस्ट अपने न्यायपूर्ण तर्कों, युक्तियों एवं सिद्धान्तों द्वारा लोगोंको प्रभावितकर बहुमत प्राप्त करनेकी आशा नहीं रखते। बिना जाल-फरेब किये, अपने साथियों तथा उपकारियोंको बिना धोखा दिये उन्हें सफलताकी आशा नहीं। वे केवल विरोधके लिए ही विरोध करते हैं।

रामराज्यकी प्राचीनता

आपने लिखा है कि 'रामराज्य करोड़ों वर्षका पुराना हो गया। यह देशमें कभी गम्भीर चर्चाका विषय बनेगा, इसकी आशा भी नहीं।' किंतु सूर्य भी कभी कुहरेसे ढँक जाता है, फिर भी वह अन्तमें प्रकाशमें आता है। सत्य अनेक बार मिथ्या पाखण्डोंसे ढँक जाता है, फिर भी सत्यकी ही विजय होती है। इसी तरह रामराज्य एक परम सत्यतत्त्व है। आजके मिथ्या भौतिकवादके व्यामोहमें पड़े लोगोंको उसका महत्त्व भले ही भासित न हो, परन्तु उसका भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल है।

वस्तुतः किसी भी सत्यका देश, काल और परिस्थितिके अनुसार ही प्रयोग होता है। मार्क्सदर्शनको ही ले लिया जाय, उसके आधार और प्रयोगमें लेनिनसे नम्बूद्रिपादतक देखें, तो कितना अन्तर दिखायी पड़ता है। किंतु लक्ष्यमें एकवाक्यता होनेसे सभी मार्क्सवादी हैं और शताब्दी बीत जानेके बाद भी मार्क्सवादको वे अनिवार्य मानते हैं। इतना ही नहीं, सृष्टिपर्यन्त उसे ही अनिवार्य मानते रहेंगे। फिर इस प्रकारकी आस्थावाले किसी सिद्धान्तकी प्राचीनताकी मखौल क्यों उड़ाते हैं?

स्त्री, दास और शूद्र

राहुलजीने लिखा है कि 'पुस्तकमें विधवा स्त्रियोंके जिन्दा जलाने या सतीप्रथाका समर्थन किया गया है।' यह मिथ्या-प्रलाप ही है। सतीप्रथा और बात है तथा किसीको जिन्दा जलाना और बात। किन्तु रूसी चश्मेसे देखनेवाले राहुलजीको यह भेद क्यों प्रतीत होने लगा! शूद्रों तथा दास-दासियोंके सम्बन्धमें मिथ्या विकृत वर्णन राहुलजीकी बुरी नीयतका ही सूचक है। पुस्तकमें शूद्रोंके लिए पूर्ण सम्मानका विधान किया गया है। इसी तरह दासभावका भी राहुलजीने विकृत वर्णन किया है। भारतीय विद्वान् सभी जीवोंको ईश्वरका दास ही मानते हैं। रामानुज-सम्प्रदायमें बड़ा-से-बड़ा विद्वान् आचार्य अपने आपको 'दास' शब्दसे व्यवहृत करता है। श्रीमद्भागवतमें धर्मराज युधिष्ठिरको 'हरिदास' कहा गया है। वस्तुतः 'शेषत्व' या 'अङ्गत्व' ही दासत्व है। 'अङ्गित्व' या 'शेषित्व' स्वामित्व है। वह आज भी प्रचलित है। आज भी छोटेसे बड़े लोगों तक आपसमें शेष-शेषित्व (अङ्गाङ्गित्व) प्रचलित है। मन्त्रियोंके व्यक्ति-

गत सचिवसे लेकर निम्नश्रेणीके कर्मचारी तकमें वही शेष-शेषिभाव चल रहा है। इन बातोंका कोई समुचित उत्तर न देकर इधर-उधरका कुछ प्रलाप कर देनेसे पुस्तकका खण्डन नहीं हो सकता। रही विक्रयकी बात, वह तो परिस्थितवश राजा हरिश्चन्द्रको पत्नी, पुत्र तथा स्वयं अपने आपका भी विक्रय करना पड़ा था।

तीसरे 'रामराज्य वाद' प्रकरणमें वे कहते हैं कि 'उस धर्मके अनुसार वेद सुननेवाले शूद्रोंके कानमें सीसा पिघलाकर डाल देना चाहिए और वेद उच्चारण करनेपर उसकी जीभ काट लेनी चाहिए।' यहाँ यदि कोई ईश्वर और धर्म माननेवाला आस्तिक विचारक होता, तो उसे समझानेमें कठिनाई न पड़ती। कारण यदि किसी मन्त्र या स्तोत्र-के उच्चारण या श्रवणसे किसीको अदृष्ट या सत्पुण्यलाभ हो सकता है, तो किसी अनधिकारीको किसी मन्त्रविशेषके उच्चारण या श्रवणसे अदृष्ट पातक भी हो सकता है। दोनोंमें ही शास्त्रप्रामाण्य समान है। शब्दोंका शक्तिवैलक्षण्य दार्शनिक-जगत्में प्रसिद्ध है। मन्त्रशास्त्रके अनुसार भी कई मन्त्र किसीके मित्र तथा किसीके अमित्र होते हैं। किंतु राहुलजी वेद और ईश्वरके पक्के दुश्मन हैं, अतः उनकी दृष्टिमें यह सब विचार व्यर्थ ही है। शास्त्रप्रामाण्यवादी तो शास्त्रानुसार ही अधिकार-अनधिकारका विवेचन करते हैं।

राहुलजीका कहना है कि 'रामराज्य' को पक्षपातविहीन कहना गलत है, क्योंकि यह वाद १० प्रतिशत तथाकथित ऊँची जातिवालोंके हितका समर्थक है।' किंतु उन्होंने अपने उक्त कथनमें कोई प्रमाण ढूँढनेका कष्ट नहीं किया। प्रामाणिक इतिहासकी दृष्टिसे महर्षि वाल्मीकिने रामराज्यको सर्वदोषशून्य और सर्वहितकारी ही कहा है :

धर्मेण शासिते राष्ट्रे न च बाधा प्रवर्तते।
नाधयो व्याधयश्चापि रामे राज्यं प्रशासति॥

गोस्वामीजीने भी कहा है :

दैविक दैहिक भौतिक तापा। रामराज्य नहिं काहुहि व्यापा॥
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

रामराज्यमें पक्षपात नहीं होता। राम यदि स्वधर्मविमुख शूद्र (शम्बूक) को दण्ड देते हैं, तो धर्मविमुख रावण जैसे ब्राह्मणको भी प्राणदण्ड देते हैं।

राहुलजीकी पुस्तकमें मूल पुस्तककी अधिकांश बातें विकृत करके लिखी गयी हैं। यदि उन्हें निकाल दिया जाय, तो उनके दस-बीस अनर्गल प्रलाप छोड़कर कुछ भी तत्त्व नहीं है। पुस्तककी जिन बातोंपर उन्होंने लिखा है, पुस्तक पढ़नेपर उन बातोंपर साङ्गोपाङ्ग विवेचन मिलेगा। अमृतस्य पुत्राः (सब प्राणी अमृत परमेश्वरके पुत्र हैं)—वस्तुतः यही समता और स्वतन्त्रताकी आधारभित्ति है। यह आधार बिना माने जड़ देह आदिकी दृष्टिसे उपर्युक्त नारा निराधार ही हो जाता है। किन्तु राहुलजीको इसमें भी भ्रम ही हुआ।

किसी भी मतमें समता और स्वतन्त्रताकी एक सीमा होती है। कोई भी सभी प्राणियोंके रूप-रङ्ग, बुद्धि-शक्ति तथा परिमाणमें एकता नहीं ला सकता। किन्तु रामराज्यवादमें आत्माकी दृष्टिसे पूर्ण समता आदि मान्य है। व्यवहारमें वर्णाश्रम-मर्यादाके अनुसार सबके लिए उचित काम, दाम, आराम तथा उन्नतिकी सुविधाकी व्यवस्था मान्य है। किंतु राहुलजीकी तो वर्णाश्रम धर्मसे दुश्मनी है। अतः उसका नाम आते

ही वे भड़कने लगते हैं। उनका आरोप है कि 'स्वामीजी विरोधियोंकी सत्य बात उद्धृत करते हैं, परन्तु उसे समझनेकी कोशिश नहीं करते।' किंतु उन्हें जानना चाहिए कि जैसे उनकी बातोंमें समझने लायक कोई बात है ही नहीं, वैसे ही कम्युनिस्टोंकी बातें भी हैं। पुस्तकमें जिनका उद्धरण है, उनका युक्तियुक्त खण्डन भी है।

राहुलजी चौथे 'दास, शूद्र, स्त्री' प्रकरणमें रामराज्यकी निन्दा करते हुए वर्णाश्रम धर्म और व्यक्तिगत सम्पत्तिके सम्बन्धमें असम्बद्ध प्रलाप करते हैं और दासप्रथा, स्त्रियोंके सतीत्व आदिको कोसते हैं। इसीपर आपने दासी-विक्रयकी एक लम्बी कथा भी लिख डाली। किंतु उन्हें समझना चाहिए कि रामराज्यवादी यत्किञ्चित् संस्कृतवाक्य प्रमाण नहीं मानते। उनका तो केवल इतना ही कहना है कि 'शेषत्व' या 'अङ्गत्व' ही दासत्व है, जो वह किसी-न-किसी रूपमें आज भी है और सदा ही रहेगा। कहा जा चुका है कि धर्मराज युधिष्ठिरका सर्वाधिक सम्मान 'हरिदास' शब्दप्रयोग द्वारा किया गया है : हरिदासस्य राजर्षेः। किंतु घृणित दासत्वसे भी बदतर स्थिति रूसमें कम्युनिस्ट विरोधियोंकी है। वहाँ सरकारसे मतभेद रखनेवाले लोगोंके साथ दासोंकी अपेक्षा भी बुरा बर्ताव किया जाता है। एक व्यक्ति दूसरेका हुक्म माननेके लिए बाध्य हो और न माननेपर दण्डित हो, यही निकृष्ट दासप्रथाका नमूना है। दास-दासी-विक्रयकी कथा अलग है, परिस्थितिवश राजा हरिश्चन्द्रको अपनी महारानी, राजकुमार तथा अपनेको भी बेच देना पड़ा था। साधारण स्थितिमें इसे उचित या धर्म नहीं कहा जा सकता। रामराज्यवादका यह व्यापक सिद्धान्त कभी न भूलना

चाहिए कि सभी प्राणी ईश्वरके अंश या सन्तान हैं। उनको आपसमें स्वाभाविक भाईचारा होना चाहिए। नगण्य-से-नगण्य किसी प्राणी-का भी अपमान करना और ईश्वरपूजाका नाटक रचना भगवान्को कभी पसन्द नहीं। यह तो वैसी ही बात है, जैसे किसीके गलेमें फूलकी माला डालना और उसकी आँखमें काँटा चुभाना!

इसी तरह राहुलजीने 'शूद्र नीच' इस शीर्षक द्वारा रामराज्यवादसे शूद्रोंको भड़कानेका प्रयत्न किया है तथा 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, लाला, तीनों-का मुँह काला, तीनोंको देश निकाला' आदि आधुनिक नारों द्वारा वही 'वर्णभेद' और 'वर्णविद्वेष' फैलानेकी नीति अपनायी है। व्यासको 'शूद्रीपुत्र' कहकर यह आशा प्रकट की है कि 'आगे चलकर सवर्णों और हरिजनोंमें भी परस्पर रोटी-बेटीके सम्बन्धका सिलसिला, चल पड़ेगा,' यद्यपि वे स्वयं इस सम्बन्धमें बहुत आगे बढ़ चुके हैं। वस्तुतः रामराज्य-पर उक्त आक्षेप सर्वथा निराधार है। 'रामराज्यवाद' में 'विदुर, धर्मव्याध जैसे शूद्रों, अन्त्यजोंका सम्मान किसी महर्षिसे कम नहीं। धर्म-शास्त्रोंमें भी कहा गया है कि स्वधर्मस्थित शूद्र सम्यक् स्वर्गका भागी होता है। स्वधर्मानुसारी कोई भी आचरण धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे निन्द्य नहीं है। जैसे परिव्राजकके लिए भिक्षाचर्या निन्द्य नहीं, वैसे ही शूद्रोंके लिए सेवा भी निन्द्य नहीं है।

इसी तरह 'स्त्री परतन्त्र' शीर्षकसे राहुलजीने स्त्रियोंकी परतन्त्रताके सम्बन्धमें आँसू बहाये हैं। किन्तु रामराज्यमें स्त्री (माता) को पितासे हजारगुना अधिक सम्मान दिया गया है। लेकिन उच्छृङ्खलपंथियों-की दृष्टिमें इसका कुछ भी महत्त्व नहीं। उनके यहाँ पुरुषोंके साथ कन्धे-से-

कन्धा भिड़ाकर चलना ही सबसे बड़ी उन्नति है। शिष्यका गुरु-परतन्त्र्य, स्त्रीका पति-पारतन्त्र्य भूषण ही है, दूषण नहीं। स्वैरिणी होना ही स्त्रीका दूषण माना जाता है।

राहुलजी कहते हैं कि 'महाभाष्यकार पतञ्जलि कपिलकेश (अंग्रेजों-की तरह गोरे और पीले बालों) वालोंको ब्राह्मण बतलाते हैं। आज तो कोई भी ब्राह्मण इसे माननेके लिए तैयार नहीं है। वस्तुतः अपनेको 'आर्य' कहनेवाले जिन लोगोंमें काले आदमी मिलते हैं, उनपर प्राचीन निषाद-जातिके रक्तका प्रभाव है।' राहुलजीका रक्त-सम्मिश्रण या वर्णसाङ्कर्यमें न जाने क्यों इतना स्वाभाविक प्रेम है कि उन्हें सर्वत्र वही दिखायी देता है और वे प्रत्येक कृष्ण वर्णवाले व्यक्तिमें निषाद रक्तके सम्मिश्रणकी कल्पना कर बैठते हैं। व्यासकी श्यामलतामें भी उन्हें यही हेतु भासित होता है। वे यह नहीं जानते कि व्यासके पिता पराशर तथा माता मत्स्यगन्धा भी निषादी नहीं थी, किन्तु उपरिचरवसुके वीर्य-से मछलीमें उत्पन्न मत्स्यगन्धा क्षत्रिया थी, जो महाभारतके व्यासके अस्तित्वमें प्रमाण है। व्यासजन्मसम्बन्धिनी कथामें भी वही महाभारत प्रमाण है। फिर राहुलजी विष्णु, कृष्ण, राम, राजश्यामला आदिकी कृष्णताका समर्थन कैसे करेंगे, यह वे ही जाने। दशरथके राम और भरत श्यामल वर्णके तथा लक्ष्मण और शत्रुघ्न गौर वर्णके हुए। वसुदेवसे बलराम गौर और कृष्ण श्यामल हुए।

वस्तुतः भारतमें छहों ऋतुओंका पूर्ण विकाश होता है। अतः देश-कालभेदसे तथा अन्यान्य हेतुओंसे भी रूप-रंगमें भेदका समर्थन हो जाता है। अतएव मैथिल, बङ्गाली, पञ्जाबी, युक्तप्रान्तीय, राजस्थानी,

महाराष्ट्रीय, द्रविड़ आदिके रूप-रङ्गों तथा स्वरूपोंमें स्पष्ट भेद भासित होता है। ये सभी आर्य हैं और सभीके समान गोत्र भी होते हैं। सत्त्व शुक्ल, रज रक्त और तम कृष्ण होता है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र एवं महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती आदिके रङ्गोंकी व्यवस्था भी उक्त गुणोंके अनुसार ही है।

शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः।

आदि श्रीमद्भागवत (१०।८।१३) के अनुसार विष्णु भगवान्के स्वरूपोंमें भी रङ्गकी व्यवस्था होती है। पृथ्वीका पीत, जलका शुक्ल, अग्निका रक्त, वायुका कृष्ण और आकाशका धूम्रवर्ण कहा गया है। सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि इन ग्रहोंका भी ताम्र, श्वेत, रक्त, हरित, पीत, भास्वर, कृष्ण, धूम्रवर्ण मान्य है। इन ग्रहोंके अनुसार भी रङ्गभेद होता है। जन्मकालिक लग्नके नवांशका स्वामी ग्रह यदि बलवान् हो, तो उसके वर्णानुसार भी रङ्गकी व्यवस्था होती है। लग्न-नवांशाधिपति निर्बल हो और लग्नमें स्थित या लग्नको देखनेवाला ग्रह बलवान् हो, तो उसके अनुसार पुरुषका रङ्ग होता है। चन्द्रमा जिस राशिके नवांशमें हो, उसके स्वामी ग्रहके वर्णानुसार भी रङ्गकी व्यवस्था होती है। इसमें भी देश, ज्ञाति, कुल आदिके अनुसार वर्णोंमें तारतम्य होता ही है। इसीलिए कहा गया है : परं विधार्याः कुल-जातिदेशाः। रूप, रङ्ग एवं मनपर बाह्य परिस्थितियोंका भी प्रभाव अवश्य पड़ता है। मैथिलों, पञ्जाबियों, द्रविड़ों आदिपर जलवायुका प्रभाव स्पष्ट है। अङ्गोंके सौन्दर्य, माधुर्य आदि गुणगणोंमें प्राक्तन कर्म भी हेतु होते हैं। मनोविज्ञानके अनुसार कभी-कभी गर्भिणी द्वारा

श्यामल वस्तुके चिन्तनका प्रभाव गर्भस्थ शिशुके रङ्गपर भी पड़ता है। इन सब बातोंपर मूलपुस्तकमें विस्तारसे विचार किया गया है। महाभाष्यकारने ब्राह्मण्य आदिका कारण केवल रूपादिको नहीं माना। उनका स्पष्ट कहना है :

विद्या तपश्च योनिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम्।
विद्यातपोभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥

राहुलजीने पूर्वापर-प्रसङ्गके विपरीत पुस्तकके वाक्योंका अर्थ लगाकर लोगोंको धोखा देनेका यत्न किया है। 'जिस दिन मनुष्य भगिनी और पुत्रीसे सन्तान उत्पन्न करने लगेगा, उस दिन मनुष्यता और पशुतामें कुछ भेद न रहेगा' यहाँ उन्होंने भगिनी, पुत्रीका अर्थ भाँजी करके बहुत-सा असम्बद्ध प्रलाप किया है। पुस्तकमें भगिनी, पुत्री दोनों शब्द अलग-अलग हैं, जिससे समासकी कल्पना भी नहीं हो सकती। ऊपरके प्रसङ्गसे बात और भी स्पष्ट है। पुस्तकका प्रसङ्ग इस प्रकार है : 'वचन प्रमाण माननेपर ही माता, भगिनी, पुत्री, पत्नी आदिमें भी भेद सिद्ध होता है। तदनुसार ही संसारमें भेद-व्यवहार चलता है। पत्नी, पुत्री, भगिनी सभी स्त्री हैं; फिर भी भगिनी, पुत्री आदिके साथ व्यवहार-भेद करना पड़ता है। पशुओंमें प्रत्यक्षानुमान तो मान्य है, पर आगम (वचन) प्रमाण मान्य नहीं। अतः उनके यहाँ न व्यक्तिगत सम्पत्ति है, न उत्तराधिकार और न पत्नी, पुत्री भगिनी, माता आदिका भेद-व्यवहार ही चलता है। वह इनमें से किसीको भी पत्नी बनाकर सन्तान पैदा कर सकता है। पर यह सब मानवताके विपरीत है। जिस दिन मनुष्य भगिनी, पुत्रीसे सन्तान उत्पन्न करने लगेगा, उस दिन मनुष्यता, पशुतामें कोई

अन्तर न रह जायगा।' यहाँ प्रकरणानुसार भगिनी-पुत्री भाँजीका कोई प्रसङ्ग ही नहीं है।

राहुलजी स्वयं वेदादि शास्त्रोंके द्रोही हैं, अतः उनमें दूषण निकालना ही उनका लक्ष्य है। इसीलिए उन्हें शास्त्रका सब अर्थ उल्टा ही सूझता है। वेद-शास्त्र अनादि हैं, इसमें मनु, व्यास आदिके वचन प्रमाण हैं। आखिर वे तो बुद्ध या मार्क्सके वचनोंका आदर करते ही हैं। फिर अनादि शास्त्रप्रोक्त पातिव्रत्य आदि धर्म सादि कैसे हुए? **अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा (मनु)। अत एव च नित्यत्वम् (व्यास)।'**

राहुलजी कहते हैं कि 'पातिव्रत्यका अर्थ आगमें जलाना है।' किंतु इस बातका उल्लेख पुस्तकमें कहाँ है? इसी तरह 'सतीप्रथाका वेद-ब्राह्मणमें कोई प्रमाण नहीं है। ईसापूर्व प्रथम शतीके शकोंमें यह रीति थी। उन्हींके द्वारा यह भारतमें चली' आदि उनकी निराधार बातें तो जरूर ठीक हैं, परन्तु वेदव्याख्यानभूत व्यासनिर्मित महाभारतमें वर्णित सतीप्रथा झूठ है, यह कैसे कहा जाय?

यही है राहुलजीके विचारका नमूना! श्वेतकेतुकी कथाका समाधान मूल पुस्तकमें ही है। आस्तिक जानते हैं कि वेदोंमें कितने ही अर्थवाद होते हैं, जिनका स्वार्थमें नहीं होता। जैसे विद्या एवं अविद्याकी निन्दाका अर्थवाद केवल समुच्चयमें तात्पर्य रखता है, निन्दामें नहीं; वैसे ही पाण्डुने नियोगद्वारा धर्म-इन्द्रादि देवताओंसे कुन्तीको सन्तानोत्पादनके लिए प्रेरणा देते हुए श्वेतकेतुकी कथारूप अर्थवाद द्वारा उसकी अप्रवृत्तिको हटाया है। यत्परः शब्दः स शब्दार्थः का वृत्तान्त राहुलजी जैसे शास्त्र-

बहिर्मुखको नहीं मालूम है । माता द्वारा पुत्रके प्रति कहे गये विषं भुङ्क्ष्व का 'विष खाना' अर्थ नहीं होता है । किन्तु शत्रुगृहमें भोजन-निवृत्ति ही वाक्यका तात्पर्यार्थ मान्य होता है ।

किसी भी धर्मके धर्मग्रन्थमें परस्वापहरणको पाप या चोरी कहा गया है । अतएव किसी भी धर्मको वास्तविक रूपमें माननेवाला वैसा नहीं कर सकता । व्यक्तिका व्यवहार शास्त्र नहीं होता । जो भी शास्त्रका उल्लङ्घन करता है, वह धार्मिक नहीं कहा जा सकता । अतएव पाश्चात्य-राजतन्त्र और पूँजीवादके सम्बन्धमें पुस्तकका सिद्धान्त सर्वथा सत्य ही है ।

राहुलजी कहते हैं कि 'किसी भी कालके रामराज्यमें ७० प्रतिशत जनतामें तलाकका खुला रिवाज था ।' किन्तु यह कहना सफेद झूठ है । इसके अतिरिक्त यदि कभी ऐसी स्थिति सम्भव भी हो, तो भी जैसे मिथ्या-वादके अधिकाधिक विस्तार होनेपर भी सत्यका सम्मान रहता ही है, जैसे ही शास्त्रविरुद्ध उद्दाम प्रवृत्ति बढ़नेपर भी शास्त्रोक्त सिद्धान्तका ही आदर होता है । इङ्गलैण्डमें तलाककी प्रथा प्रचलित होनेपर भी राज-कुमारी मार्गरेटके बाइबिलके अनुसार अपना तलाकसम्बन्धी विचार त्यागनेका सर्वत्र सम्मान ही हुआ । वेदादि शास्त्र अनादि हैं । तद्विरुद्ध श्वेतकेतु आदिकी कथा गुणवादी अर्थवाद हैं । वेदमें जिस मनुका महत्त्व वर्णित है, उन्हीं मनुका कहना है कि पतिके मरनेपर स्त्री अन्य पतिकी बात भी न करे । अनादि शास्त्रोंने पातिव्रत्यका वर्णन किया ही है । फिर तलाक स्वाभाविक कैसे कहा जा सकता है? तलाक एवं पत्यन्तरसम्बन्ध व्यभिचार ही है । उपनिषद्में भारतीय राजाका स्पष्ट कहना है कि मेरे देशभरमें कोई भी व्यभिचारी पुरुष नहीं है । अतएव व्यभिचारिणी

स्त्रीकी तो कल्पना ही नहीं हो सकती : न स्वैरी स्वैरिणी कुतः। फिर भी यदि राहुलजी न समझनेका ही हठ पकड़े रहें, तो उन्हें कौन मना कर सकता है ? इसी तरह साधुओं तथा गोहत्याबन्दी-आन्दोलनके सम्बन्धमें उन्होंने अनर्गल और असम्बंद्ध प्रलाप किया है जिसका कुछ भी आधार नहीं।

पुस्तकमें 'जन्मना वर्ण-व्यवस्था एवं कर्मणा उत्कर्ष'का सिद्धान्त वर्णित है और उसपर पर्याप्त प्रमाण उपस्थित किया गया है। किन्तु उसपर राहुलजीकी स्थिति नहीं हुई। वैदिकोंके मतसे वृक्षत्वादि जातियोंके समान ब्राह्मणत्वादि जातियाँ प्रत्यक्षसिद्ध हैं। इसपर वे कहते हैं कि 'यह गलत है। यदि कहीं एक ही तरह कपड़ा पहने शूद्र और ब्राह्मणके शिक्षित कुमारोंको इकट्ठा किया जाय, तो कोई भी पहचान नहीं सकता।' किन्तु राहुलजीने यदि धैर्यसे उक्त पुस्तकको और गुरु-परम्परासे शास्त्रोंको पढ़ा होता, तो उन्हें पुस्तककी उस पंक्तिका अर्थ समझमें आ जाता। इन्हें समझना चाहिए कि चाक्षुष ज्ञानको ही प्रत्यक्ष नहीं कहा जाता। आम्रादि वृक्षोंकी अवान्तर जातियोंका भेद प्रत्यक्ष तो है, किन्तु वह प्रत्यक्ष चाक्षुष नहीं है। पुस्तकमें स्पष्ट उल्लेख है कि पित्रादिज्ञान-सहकृत चक्षुरादिसे ब्राह्मणत्वादि जातिका प्रत्यक्ष होता है। केवल 'आकृतिग्रहणा' ही जाति नहीं होती। भिन्न-भिन्न जातियोंके व्यञ्जक भिन्न-भिन्न धर्म होते हैं। ब्राह्मणत्वादि जातिका व्यञ्जक पित्रादिजाति-ज्ञान ही है। पिताकी जातिका ज्ञान होनेसे उसके पुत्रादिका जातिज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है। मूल पुस्तकके २८६-२८७ पृष्ठोंमें इसपर पर्याप्त विचार किया गया है। उन्हें चाहिए कि कुछ समझनेका भी प्रयत्न करें, केवल हर जगह मखौलसे ही काम नहीं चलता।

जनतन्त्र

आगे राहुलजीने मुण्ड-गणना (वयस्क-मताधिकार) की हिमायत करते हुए बहुमतका राग अलापा है और कहा हैं कि 'स्वामीजी बहुजनका रोष नहीं जानते।' मालूम पड़ता हैं, उन्होंने मार्क्सवादी ग्रन्थोंको भी ठीक-ठिकानेसे नहीं पढ़ा है। क्या कम्युनिस्टोंके यहाँ बहुमतका कोई महत्त्व है और क्या मार्क्सवादमें मुण्ड-गणनाका आदर है? स्पष्टरूपसे कम्युनिस्ट ग्रन्थोंमें इङ्गलैण्ड आदि देशोंकी निर्वाचन-प्रथाकी मखौल उड़ायी है। क्या रूस, चीन आदि देशोंमें आज भी स्वतन्त्र निर्वाचनका कुछ महत्त्व है? विचार-स्वातंत्र्य, भाषण-स्वातंत्र्यका कुछ महत्त्व है? प्रेस तथा पत्रोंका स्वातंत्र्य है? 'मार्क्सवाद और रामराज्य' में स्पष्ट लिखा है कि शब्दोंके हेर-फेरके अतिरिक्त प्राचीन एवं आधुनिक भावोंमें कोई भेद नहीं। साइबेरियाके 'मजदूर-कैम्पों' को क्या दास-प्रथा नहीं कहा जा सकता? जिस व्यवस्थामें स्वेच्छाका सम्बंध न हो, वह रूसी साम्यवाद तो समग्र रूपमें दास-प्रथाका इस अंतरिम कालमें शिष्टप्रयोग ही है।

'मुण्ड-गणना बेकार है' इस शीर्षकसे राहुलजी यह भी आरोप करते हैं कि 'पुस्तकमें बालिग मताधिकारका विरोध किया गया है।' इसपर इतना ही कहना है कि उन्होंने सावधानीसे पुस्तक पढ़ी नहीं। निर्वाचन आदिकी पूरी मखौल तो मार्क्सवादी ग्रन्थोंमें ही मिलता है। अतएव मार्क्सवादमें सर्वहाराकी डिक्टेटरशिप चलती है। जिस रूसकी दुहाई देते हुए राहुलजी अघाते नहीं, वहाँ भी वही डिक्टेटरशिप है।

राहुलजी और उनके साथी जिस स्टालिनका गुण-गान करते थे, आज उसे ख़ुश्चेव क्या कह रहे हैं, यह सर्वविदित है।

रामराज्यवादमें अनियन्त्रित मुण्ड-गणनाका खण्डन करते हुए भी अन्ततः स्वस्थ जनतन्त्रको ही आजके देशकालके लिए उपयोगी बताया गया है। आजके वादोंमें कुछ सुधारोंके साथ जनतन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ शासन-तन्त्र कहा जा सकता है। विशेषज्ञोंके सामने जन-गणना अकिञ्चित्कर ही है, यह रामराज्यवादी ही नहीं, किंतु बाध्य होकर कम्युनिस्टोंको भी मानना पड़ेगा। क्या रूसके वैज्ञानिक आविष्कारोंकी अवहेलना मुण्ड-गणनाके आधारपर की जा सकती है? कम्युनिस्ट भी बीमार होनेपर चिकित्सा विशेषज्ञसे ही कराता है। मुण्ड-गणनाके आधारपर चिकित्सा नहीं करता। कम्युनिस्टोंके सिद्धान्तमें जन-गणना सर्वथा धोखे-की टट्टी ही है। धार्मिकोंके सम्बन्धमें राहुलजी कहते हैं कि 'उनकी दूकानें दम्भ, पाखण्डके आधारपर चलती हैं: दुनिया ठगिये मक्करसे। किंतु जो ईश्वर, धर्म एवं शास्त्रको मानते हैं, वे ठगी करनेसे कुछ-न-कुछ अवश्य ही डरेंगे या शर्मायेंगे। परन्तु आप जैसा कम्युनिस्ट ठगीसे कैसे हिचकेंगा, जिसके सामने न धर्म है, न शास्त्र, न ईश्वर और न तो स्वर्ग-नरक ही हैं। प्रत्युत जिनके गुरु मार्क्सका उपदेशका ही जाल-फरेब, छीना-झपटी एवं जिस तरहसे बने, राज्य हथिया लेनेका है, वे ठगीसे कैसे परहेज़ करेंगे?

राहुलजी रूसकी गौरव-गाथाका वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'वहाँ बेकारीका नाम ही नहीं है।' किंतु इसमें प्रमाण राहुलजीका वचन ही पर्याप्त है। यदि यह सब सत्य है, तो रूसकी जनताको लेखन-भाषणका

स्वातन्त्र्य क्यों नहीं? प्रेस-ओंकी स्वतंत्रता क्यों नहीं? उनका मुख क्यों बन्द रखा गया है? गत नवम्बरके 'धर्मयुग' में श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर'ने चीनका भ्रमणकर वहाँकी स्थिति लिखी है। वहाँ कुछ दिनों पहले जनताको भाषण-स्वातंत्र्य दिया गया था। परन्तु दो ही महीनेमें कम्युनिस्ट-सरकारका आसन हिल गया और पुनः भाषण-स्वातंत्र्यपर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यही स्थिति रूसकी भी है। बाहरके लोगोंको दिखानेके लिए नमूनेके कुछ स्थान रखे गये हैं, जहाँ स्वर्गसुख-प्रदर्शन करनेका यत्न किया गया है। वहाँकी जनताको बाहरकी स्थिति एवं बाहरके लोगोंको रूसकी वास्तविक स्थितिसे अपरिचित रखनेके लिए रूसी लौह-प्राचीरका प्रतिबन्ध रहता है।

राहुलजी लिखते हैं कि 'यन्त्रोंके कारण बेकारी बढ़ती है। यन्त्रोंका बहिष्कार करनेकी बात स्वामीजी नहीं करते, क्योंकि वे वायुयानपर चलते हैं।' किंतु उन्हें मालूम होना चाहिए कि यंत्रोंके सबसे बड़े भक्त कम्युनिस्ट ही होते हैं। मार्क्सवादियोंने यंत्रोंके उत्तरोत्तर विकासका ही समर्थन किया है। वे मार्क्सवादी ग्रन्थ पढ़ें, तो उन्हें मालूम होगा कि कम्युनिस्टका जन्म एवं उसकी सफलतामें यंत्रवादका प्रमुख महत्त्व कम्युनिस्टोंको मान्य है। रामराज्यवादी महायन्त्रोंका निर्माण निषिद्ध ठहराते हैं, जिससे बहुजनकी जीविकाका अपहरण होता है।

राहुलजी पागलों और सनकियोंकी तरह सेठों, साहूकारोंका नाम जप रहे हैं। तभी तो उनकी पुस्तकमें अधिकांश सेठोंके नामोंकी भरमार है। बस, वे इसी बलसे पुस्तकका खण्डन कर देना चाहते हैं। रामराज्यमें सर्वजनहित, सर्वजनसुखका सिद्धान्त मान्य है। सबको एक दूसरेका

पोषक बनाकर शोषण मिटाना इष्ट है। अमीर, गरीब सबका कल्याण हो, सब दूसरेके पूरक बनें, कोई किसीका शोषक न बने, पुस्तकमें इसी बातपर सर्वाधिक बल दिया गया है।

राहुलजी मार्क्सकी भविष्यवाणीके समर्थनकी बात उठाकर कुछ कह न सके। प्रश्न यह नहीं था कि 'आगे क्रान्ति होगी या न होगी?' प्रश्न तो यह था कि 'जब इङ्गलैंड, फ्रांस, अमेरिकामें यन्त्रोंका अधिकाधिक विकाश क्रान्तिका कारण था, तो पहले इङ्गलैंड फ्रांस, अमेरिकामें कम्युनिस्ट-राज्य सफल क्यों नहीं हुआ? क्योंकि सर्वप्रथम औद्योगिक क्रान्ति वहीं हुई थी। चीनकी क्रान्ति मुख्यरूपसे किसानोंकी क्रान्ति थी, जो मार्क्सके अनुसार असम्भव थी। मार्क्सवादियोंके मतानुसार क्रान्तिके अधिकारी मजदूर ही हो सकते हैं। किसान उत्पादन-साधन भूमिका मालिक होनेसे निम्नश्रेणीका पूँजीपति ही कहा जाता है। मार्क्सवादमें बुद्धिजीवियोंका महत्त्व नहीं जैसा है। सन् १९३६ के पूर्वतक साम्यवादी रूसमें उन्हें मत देनेका भी अधिकार नहीं था। पुस्तककी यह बात राहुलजीने झुठलानेका प्रयत्न किया है। परन्तु यह सत्यका अपलाप ही है। 'सत्यभक्त'जीने अपने 'कार्लमार्क्स' पुस्तकमें इसपर अधिक प्रकाश डाला है।

आगे राहुलजी लिखते हैं कि 'मार्क्सवादी किसीको ईश्वरभक्त होनेसे मना नहीं करते।' किन्तु इस सम्बन्धमें आप श्रीयशपालका 'मार्क्सवाद' पढ़ें। उसमें यह बात स्पष्ट है कि 'जो ईश्वर और धर्मकी बात करते और मार्क्सवादी नीति भी अपनाना चाहते हैं, वे या तो मूर्ख हैं, मार्क्सवाद समझते नहीं अथवा मक्कार हैं। ईश्वरके नामपर दूसरोंको धोखा देते हैं।'

राहुलजीको समझना चाहिए कि जो ईश्वरवादी होगा, उसे ईश्वरीय नियम भी मानने होंगे। वह किसीको वैध सम्पत्तिके अपहरणको डाका, चोरी या पाप समझेगा। लेकिन मार्क्सीय मतकी स्थिति तो व्यक्तिगत परस्वापहरणपर ही निर्भर है।

पुनः किस आधारपर राहुलजी मुण्ड-गणनाकी हिमायत करते हैं? 'मार्क्सवाद और रामराज्य' पुस्तकमें वास्तविक बहुमतका पूर्ण आदर किया गया है और आजके समयमें कुछ परिष्कारके साथ लोकतन्त्रको ही उचित बताया गया है। कम्युनिष्टोंके यहाँ स्पष्ट ही सर्वहाराका अधिनायकत्व माना गया है। वस्तुतः सर्वहाराके नामपर कुछ गुण्डोंका ही अधिनायकत्व कम्युनिष्ट राज्योंमें चलता है। कम्युनिष्ट सत्ता हथियानेके लिए कई स्थानोंमें जनतन्त्रका नाम लेते हैं, परन्तु अन्तमें केरल-काण्ड जैसी ही स्थिति सामने आती है।

मिथ्या-प्रलाप

राहुलजीने 'रामराज्य और मार्क्सवाद' के प्रारम्भमें 'मार्क्सवाद और रामराज्य' के जगह-जगहके बहुतसे अधूरे वाक्योंको उद्धृतकर उनका परिहास (मजाक) करना चाहा है, किन्तु उनका उत्तर देनेका साहस नहीं किया। अपनी तरफसे योजन चार मोछ रह ठाढ़ी जोड़कर प्रामाणिक बातोंको उड़ा देनेका यत्न करना चाहा है। किन्तु यदि वे अपने बौद्ध गुरुओंके जातक-ग्रन्थोंकी बात पढ़ें, तो उन्हें 'योजन चार मूँछ रह ठाढ़ी'से अधिक चमत्कार दिखाई देगा। वहाँ तो बुद्धके उष्णीष-किरणों द्वारा ब्रह्मलोक तकका प्रकाश होता था। पाषाणकी मूर्तियाँ भी उठ-उठकर बुद्धको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करती थीं। बुद्धको करोड़ों

जन्मोंकी बातोंका स्मरण होता था। बुद्धसे ही ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओंकी उत्पत्ति होती थी। राहुलजी पहले अपना स्पष्ट स्वरूप व्यक्त करें। यदि वे बौद्ध हैं, तो उनसे उस दृष्टिसे विमर्श किया जायगा। यदि वे जड़वादी हैं, तो उस दृष्टिसे। उन्हें 'शाखा-चंक्रमण' न्याय छोड़ना पड़ेगा। यदि वे जड़वादी हैं, तो उन्हें मूर्तिपूजा और मन्दिर-प्रवेशके समर्थनका नाटक छोड़ना पड़ेगा। यदि वे बौद्ध हैं, तो वे उन बातोंपर आक्षेप नहीं कर सकेंगे, जो स्वयं उनके बुद्धमतमें प्रसिद्ध हैं। जहाँ दोनों ही पक्षोंमें समान आक्षेप एवं समान परिहार होते हैं, वहाँ एक पक्ष दूसरेपर आक्षेप नहीं कर सकता।

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तादृशः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे॥

ऋतम्भरा प्रज्ञा

राहुलजीने ऋतम्भरा प्रज्ञाकी मखौल तो उड़ायी, किन्तु यह नहीं विचारा कि समाधिजन्य विशिष्ट ज्ञानका महत्त्व बौद्ध-धर्ममें भी मान्य है। क्या बौद्धोंके क्षणभङ्गवाद और शून्यवादकी दृष्टिसे आजके सब ज्ञान भ्रान्त नहीं हैं? वस्तुतः पुस्तकमें ऋतम्भरा प्रज्ञाको स्वतन्त्र प्रमाण ही नहीं माना गया है। प्रत्युत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, अनुपलब्धिको ही प्रमाण माना गया है। आगम अपौरुषेय और पौरुषेय दो प्रकारका माना गया है। नेत्रादिके समान अपौरुषेद आगमको स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। पौरुषेय आगमको प्रत्यक्षानुमानमूलक एवं अपौरुषेय आगममूलक होनेसे प्रमाण माना गया है। ऋतम्भरा प्रज्ञाका आधार भी अपौरुषेय आगम तथा तन्मूलक धर्म ही माना जाता है।

अतएव अपौरुषेय आगम-विरुद्ध होनेसे ऋतम्भरा प्रज्ञाके ऋतम्भरात्वमें ही सन्देह हो जाता है। राहुलजी या उनके साथी किसी कम्युनिस्ट-, को विचार करनेकी इच्छा हो, तो गम्भीरतासे एक-एक विषयपर विचार करें। पुस्तककी अधूरी बातोंका उद्धरण देकर लोगोंको अन्धकारमें डालना धोखाधड़ी है। पुस्तकमें जो बातें कही गयी हैं, उनका युक्तियों और शास्त्रोंसे उपपादन किया गया है। ऋषियोंका ज्ञान आजसे कहीं बढ़ा हुआ था। उनके संनिकृष्ट-विप्रकृष्ट, लोक-परलोक, अस्त्र-शस्त्र आदिके विज्ञानतक आजतकके भौतिक वैज्ञानिक नहीं पहुँचे हैं। 'शास्त्रीय दृष्टिसे विकाशकी अपेक्षा ह्रासपक्ष ही सङ्गत जँचता है।' इत्यादि बातोंके समर्थनमें क्या-क्या युक्तियाँ दी गयी हैं? यदि राहुलजी अपनी पुस्तकमें उनका उद्धरण करके खण्डन कर सकते, तभी उनकी ईमानदारी एवं बुद्धिमानी कही जा सकती थी।

इसी तरह राहुलजीने **ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति।** इस सर्वास्तिकसम्मत सिद्धान्तकी मखौल उड़ायी है और कहा है कि 'यदि ऐसा ही होता, तो ऋषि हवासे कहते, विमान हो जा, तो वह विमान बननेको मजबूर होता (ती?)।' राहुलजी समय-समयपर बौद्धधर्मकी प्रशंसा करते हैं। बौद्ध-जातकोंमें चमत्कारोंकी कमी नहीं है। 'माताके उदरमें रत्नमय मंजूषाके भीतर बुद्ध विराजमान थे' आदि बातें अतिरंजनाके साथ वर्णित हैं। बुद्धका जन्म ही चमत्कारपूर्ण था, यह बौद्धोंको मान्य है। फिर भी वैदिक ऋषियोंके सम्बन्धमें उन्हें वे ही सब बातें असङ्गत जँचने लगती हैं। पूर्वोक्त वाक्यके पूर्वार्धमें यह कहा गया है कि 'लौकिक ऋषियोंकी वाणी अर्थानुसारिणी होती है,

किन्तु आय, उच्चकोटिके सिद्ध ऋषियोंकी वाणीका अनुसरण अर्थोंको ही करना पड़ता है।[2] ईश्वर तथा प्रजापति आदि सङ्कल्पसे ही सृष्टि करते थे, यह सभी आस्तिकोंको मान्य है। फिर यदि वे हवाको विमान बनने का आदेश दें, तो हवाको विमान बननेमें क्या आपत्ति होगी? वस्तुतः सभी वस्तुओंका प्रकृतिसे निर्माण होता है। ईश्वर एवं ईश्वरकल्प सिद्ध महर्षियोंमें प्रकृतिपर नियन्त्रण करनेकी शक्ति होती है। 'योगदर्शन' में, जिसका अनुसरण बौद्धोंने भी किया है, ऐसे प्रकृत्यापूरके सिद्धान्त पर्याप्त रूपसे वर्णित हैं। जहाँ सर्वसाधारण लोगोंमें वैसे ऋषियोंका दर्शन भी दुर्लभ है, वहाँ वैज्ञानिक अनुसंधानोंकी सफलता है ही। क्या राहुलजी सबकी एक-सी ही शक्ति मानते हैं? क्या आज जैसे बाँध बनानेके आयोजन होते हैं, ऐसे ही आयोजनोंसे सूर्य, चन्द्र एवं पृथ्वीका निर्माण हुआ है? क्या जैसे विज्ञानशालाओंमें यन्त्र बनते हैं, वैसे ही किन्हीं विज्ञानशालाओंमें वैज्ञानिकोंके दिल, दिमाग, और मस्तिष्क गढ़े जाते हैं? यदि सृष्टि-वैलक्षण्य मान्य है, तो ईश्वर तथा प्रजापति आदिकी वाणी एवं सङ्कल्प आदिकी विशेषता माननेमें क्या आपत्ति हो सकती है? ईश्वरको चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी आदिके निर्माणमें भले ही परिश्रम न हुआ हो; परन्तु क्या आजके लोगोंको भी विभिन्न कार्योंके निर्माणमें परिश्रम न होगा?

इसी तरह महायन्त्र-प्रवर्तन-प्रतिषेधपर राहुलजीने यत्किञ्चित् लिखा है। इसका मूलकारण यही है कि वे शास्त्रीय विचार-पद्धतिके ज्ञानसे शून्य हैं। श्रुतार्थापत्ति भी एक प्रमाण होता है। उसीके आधारपर महायन्त्रसम्बन्धी बातें पुस्तकमें लिखी गयी हैं। राहुलजी यदि धैर्य-से पुस्तक पढ़ें, तो उनका भ्रम दूर हो जायगा।

विकासवाद

इसी तरह राहुलजीने 'सच्चा इतिहास' शीर्षक लिखकर पाषाणादि युगोंकी सचाईके समर्थनका असफल प्रयत्न करते हुए लिखा है कि 'कभी झूठ न बोलनेवाली पृथ्वी माताने अपनी गोदमें छिपाये प्रमाणोंको देकर जिसकी सत्यता सारे भूमण्डलके विद्वानोंसे मनवायी, वह निराधार है और 'सुखमस्तीति वक्तव्यम्' का अनुसरण करनेवालेकी कल्पना साधार।' वस्तुतः राहुलजी-सदृश आजके विद्वानोंकी विद्वत्ताका आधार आजकी मासिक-पत्रिकाओंके लेख हैं। ऐसे विद्वान् न तो मूलका अध्ययन करते हैं, न मूल उनकी समझमें ही आता है। विकासवादके सम्बन्धमें राहुलजीके ज्ञानका आधार भी मासिक-पत्रिकाका लेख है। उसी आधार पर वे अपना ज्ञान-गौरव प्रस्तुत कर रहे हैं, जब कि इस विषयमें खंडन-की अपेक्षा उन्हें स्वाध्याय करना चाहिए था।

यदि राहुलजी आवेश छोड़कर पुस्तकका विकाशवादसम्बन्धी खंडन धैर्यसे पढ़ते, तो उनकी यह भ्रान्त धारणा मिट जाती। किंतु वे स्वयं कहते हैं कि 'पुस्तकमें संस्कृत-बहुल शब्दोंके कारण धैर्यके साथ उसका पढ़ना कठिन है। विशेषतः पुस्तकके १६४ वें पृष्ठमें 'तुसजन्तु' शीर्षकसे राहुलजी जैसे लोगोंकी इस भ्रान्त धारणाका निराकरण किया गया है। विकाशवादी भी राहुलजीकी तरह पृथ्वीकी तहोंकी बातोंको बहुत बड़ा प्रमाण मानते हैं। उन्हींके आधारपर विकाश-सिद्धान्त स्थिर करते हैं। वस्तुतः राहुलजीके मतमें पृथ्वी जड़ है, वह सत्य-झूठ कुछ नहीं बता सकती। विभिन्न बुद्धिमान् उसकी अवस्थाओंको देखकर भिन्न-भिन्न

निष्कर्ष निकालते हैं। उन्हीं अवस्थाओंको राहुलजी जैसे लोग प्रमाण मान बैठते हैं।

वस्तुतः प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमादि ही प्रमाण हैं। ऐसी अवस्थाएँ अनुमानके लिए कुछ सामग्री उपस्थित कर देती हैं। यदि पृथ्वीकी किसी तहमें एक ही जगह घोड़ा, गधा एवं जेब्राके अस्थि-पंजर मिलें, तो राहुलजीका साथी विकाशवादी तीनोंको एक ही कह सकता है; किंतु तीनों एक नहीं हैं। विकाशवादियोंका दृढ़ विश्वास है कि घोड़ेकी कड़ियाँ मिल गयीं। यूरोप, अमेरिकाकी खुदाईसे मिले विभिन्न जातियों अस्थि-पंजरोंको मिलाकर यह दिखलानेकी कोशिश की जाती है कि वे सब घोड़ोंके पूर्वज, उसकी विकासकी कड़ियाँ है। हक्सलेने इसे बड़ा महत्त्व दिया है। परन्तु आधुनिक खोजसे इसका खंडन हो गया है। 'माडर्न 'आइडिया आफ इवोल्यूशन' पुस्तकमें यह बात स्पष्ट है। फेगस अपनी 'लेस अम्यूलस डे डारविन' पुस्तकमें लिखते हैं कि 'घोड़ोंकी कड़ियाँ न तो इस प्रकारके जिन्दा जानवरोंसे पूरी होती हैं और न प्रस्तरीभूत अस्थिपञ्जरोंसे ही।' इसी तरह जोन्सने नवम्बर सन् १६२२ ई० के 'न्यू एज' पत्रमें लिखा है कि 'ब्रिटिश-म्यूजियमका अध्यक्ष कहता है कि इस म्यूजियममें एक कण भी ऐसा नहीं है, जो यह सिद्ध कर सके कि जातियोंमें परिवर्तन हुआ है।'

विकाशवादके खण्डनमें प्रस्तुत विशाल सामग्रीमें राहुलजीको केवल जूंता ही मिला। किंतु वे उसकी लम्बाईका अनुमान नहींकर सके। संभवतः जूतेके प्रतापसे सुध-बुध खो बैठे। नेवादामें मिले जूतेके तल्लेके सम्बन्धमें अगस्त सन् १६२३ के 'थियोसोफिकल पाथ' में हैनसनने उसकी चर्चा की है।

पृथ्वीकी आयु कितनी है, एक तहके प्राणी कितने दिनोंमें पाषाणीभूत हुए हैं, मनुष्योंको पैदा हुए कितने दिन हुए, पृथ्वीकी विभिन्न बनावटें किन-किन साधनोंसे हुई हैं, उन साधनोंका निर्माण कैसे हुआ—इनके सम्बन्धका ज्ञान अभीतक बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंको भी नहीं हो सका। फिर राहुलजीकी तो बात ही क्या है?

इतिहासके सम्बन्धमें 'मार्क्सवाद और रामराज्य' पुस्तकमें ४२३ पृष्ठसे 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' शीर्षकसे पर्याप्त विचार किया गया है। प्रामाणिक आधुनिक विद्वानोंके मतानुसार भी उसपर विचार किया गया है। यह विचार मार्क्सवादके मूलपर कुठाराघात है। यह यों ही नहीं टाला जा सकता। किन्तु राहुलजी फूँकसे पहाड़ उड़ा देनेका स्वप्न देख रहे हैं। जब आँखोंदेखी घटनाओंमें भी मतभेद होता है, तो जड़, भौगोलिक वस्तुओंके आधारपर विभिन्न प्रकारके अनुमान हों, यह स्वाभाविक ही है। इसीलिए तो इतिहासके ही आधारपर मार्क्सवादी 'सर्वहारा राज्य' का स्वप्न देखते हैं। हाब्स, लॉककी ऐतिहासिक धारणा इससे भिन्न ही थी। काण्ट, ग्रीन फिक्टे, हीगेल आदिकी अलग ही ऐतिहासिक धारणा थी। बहुतोंने सामाजिक अनुबंधको ऐतिहासिक कहा, तो अन्य उसे अप्रामाणिक और अनैतिहासिक कहते हैं। मोहनजोदड़ो आदिकी खुदाईसे मिली वस्तुओंमें यज्ञके कुण्ड एवं यज्ञपात्र भी हैं। एक चित्रकलामें एक वृक्षकी टहनीपर दो पक्षी बैठे हुए दिखाये गये हैं। एकके मुखमें फल है, अन्यके मुखमें नहीं। यह वेदके द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया का ही चित्रण है।

राहुलजी कहते हैं कि 'जम्बूद्वीपवाला भूगोल अब गलत साबित हो चुका है।' परन्तु उन्हें यह नहीं मालूम कि शास्त्रीय सिद्धान्तको गलत कहनेवाले ऐतिहासिक आये दिन गलत होते रहते हैं। भारत-वर्षका श्रीभागवतोक्त परिमाण राहुलजीको विदित नहीं, जिसके भीतर मार्क्सवादी चीन ही नहीं, रूस भी आ जाता है। भरतखण्ड उस भारतवर्षका एक अंश है।

अपनी पुस्तकके पृष्ठ १७ पर राहुलजी लिखते हैं कि 'आधुनिक शिक्षा और विज्ञानने जिन सैकड़ों बातोंको मिथ्या-विश्वास बतलाकर आस्थामें परिवर्तन किया था, उन्हें जिस महापुरुषके प्रतापसे फिर स्थापित होनेका अवसर मिला हो, उसे ऋषि छोड़ और क्या कहा जा सकता है? बुद्धिवाद भ्रान्त धारणा है, उसके कारण लोग पथभ्रष्ट हो गये है।' किंतु मूल पुस्तकमें कहीं भी बुद्धिवादको भ्रान्त धारणा और मार्ग-भ्रंशका कारण नहीं कहा गया है। किन्तु प्रमाणानुसारिणी बुद्धिको प्रमात्मिका और प्रमाणविपरीत बुद्धिको भ्रमात्मिका अवश्य कहा गया है। प्रमाणशून्य भ्रमात्मिका बुद्धिको ही मार्गभ्रंशका कारण कहा गया है। राहुलजी जैसे अनेक आधुनिक महापण्डितोंके द्वारा ईश्वरवादसे भी लोगोंकी आस्था हटानेका प्रयत्न किया गया है। मार्क्सवादी कम्युनिस्टों द्वारा शास्त्र, धर्म, सत्य, न्याय, ईश्वर तथा आत्मासे भी जनताकी आस्था हटानेका प्रयत्न किया गया है। फिर क्या आस्तिक विचारक ऐसी कल्याणकारिणी आस्थाओंको पुनः सुदृढ़ करनेका प्रयत्न न करें?

सचमुच यह कितनी विडम्बना है कि आजके बड़े-से-बड़े विद्वान् वैज्ञानिक और दार्शनिक वेद, उपनिषद्, गीता और अन्य भारतीय

दर्शनोंका अप्रतिम महत्त्व मानते हैं तथा उनके द्वारा अनेक प्रकारकी आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक शिक्षा ग्रहण करते हैं। उन्हीं-में राहुलजीकी महाविद्वत्ता बैल और घोड़ेका मांस खाना ही देखती है! जैमिनिकी मीमांसाकी बात राहुलजी जैसे ग्रन्थ-चुम्बकोंके लिए सर्वथा दुरवग्राह्य ही है। जैमिनि तथा भट्टपाद कुमारिल आदि सभी ईश्वरवादी थे, यह उनके ग्रन्थोंके गम्भीर अध्ययनसे जाना जा सका है। वैशेषिक और सांख्यको अनीश्वरवादी सिद्ध करना भी राहुलजीके लिए दुःसाध्य ही है। वस्तुतः जैसे पित्तरोगग्रस्त प्राणीको सभी वस्तुएँ पीत-ही-पीत दृष्टि-गोचर होती हैं, वैसे ही अनीश्वरवादी नास्तिक राहुलजीको सारा जगत् नास्तिक-ही-नास्तिक दिखाई देता है। किसी समयके कुछ बौद्ध भले ही अनीश्वरवादका ढोंग रचते हों, किंतु सम्प्रति लगभग सभी बौद्ध बुद्धको ही ईश्वर मान बैठे हैं। अधिकांश बौद्ध-भिक्षु 'मणिपद्मे हुम्' की चरखी चलाते हुए साक्षात् दण्डवत् प्रणाम करनेमें ही व्यस्त रहते हैं। क्या इससे कहा जा सकता है कि ईश्वरवादसे बौद्धोंका पिण्ड छूट गया? मार्क्सवादी भी भले ही अपनी गोष्ठीमें बैठकर नास्तिक बन लें। परन्तु जब ग्रामोंमें वोट माँगनेके लिए जाते हैं, तब वे भी ईश्वरवादी किसानों और मजदूरोंमें ईश्वरवादी बन जाते हैं। गत महायुद्धके अवसरपर मार्क्स-वादकी प्रयोग-भूमि सोवियत रूसमें भी २४ वर्ष बाद पुनः गिरजा-घरोंके घण्टे बजे और विजय-कामनाएँ की गयीं।

वैध स्वत्व

मूल पुस्तकमें २६६ पृष्ठसे २६८ तक 'व्यक्तिगतवैध-भूमि' शीर्षकसे धर्मशास्त्रों, नीतिशास्त्रों तथा युक्तियोंके आधारपर भूमिके वैध अधिकारका

निरूपण किया गया है। उसके अनन्तर 'भूमिकर' इस शीर्षकसे ३७६ पृष्ठतक भूमिकर तथा अन्य आयकरसम्बन्धी विचार किया है। उसपर राहुलजीसे कुछ लिखते नहीं बना। वे केवल 'स्वामीजीके सेठों, राजाओं, जमीदारों, तालुकेदारों आदिके समर्थनके लिए ही पुस्तक लिखी हैं' यह कहकर सन्तुष्ट हो गये। पुस्तककी इधर-उधरकी किन्हीं पंक्तियोंको उद्धृतकर उसके संबंधमें जनताको गुमराह करना ही उनका मुख्य उद्देश्य है।

राहुलजी अपनी पुस्तकके २१ वें पृष्ठपर 'वैयक्तिक सम्पत्ति ईश्वरीय विधान है' शीर्षकमें अपनी बात लिखते हैं कि 'मार्क्स ईश्वरके नामपर परकीय बनायी हुई वस्तुको शासकोंकी नहीं मानते। वस्तु उनकी है, जो उनका उत्पादन करते हैं। चोरसे छीनकर असली स्वामीको वस्तु दिलाना बिलकुल उचित है। शारीरिक और मानसिक श्रमसे अर्जित वैयक्तिक सम्पत्तिका विरोधी कोई कम्युनिष्ट नहीं है। पर सम्पत्तिसे सम्पत्ति पैदा करना या उत्पादनके साधनोंको वैयक्तिक बनाना जरूर कम्युनिष्टों-को मान्य नहीं है।' लगता है कि राहुलजीको सोवियत रूसकी अर्थ-व्यवस्थाका भी ज्ञान नहीं। स्टालिनके रूसमें 'पूँजी' नहीं थी, केवल 'सम्पत्ति' ही थी। किन्तु युद्धके समयमें सर्वसाधारण जनतासे 'ऋण' लिया गया। बैंकोंसे रुपये निकाले गये। ख्रुश्चेवके समय घर 'सम्पत्ति' के स्थानपर 'पूँजी' बन गये। माओ त्से तुङ्गके चीनमें 'राष्ट्रिय पूँजीवाद' स्वीकार कर लिया गया। नम्बूद्रिपाद केरलमें शासनारूढ़ होनेपर पूँजीपतियोंके सम्मेलनका सूत्रपात हुआ और मजदूरोंपर गोली-वर्षा। क्या यही है 'पूँजी' और 'सम्पत्ति' के विभाजनका रूप?

इस विषयपर और अन्यत्र २४८ पृष्ठसे २६८ तकके पृष्ठोंमें पर्याप्त विवेचन किया गया है। राहुलजी समय-समयपर अपने आपको बौद्ध

भी कहते हैं। बौद्धोंके पञ्चशीलोंमें दूसरा शील है : 'अदत्तादान-विरतिम्', जिसका अभिप्राय यह है कि दूसरेकी किसी भी वैध वस्तुको, चाहे वह घरमें पड़ी हो या अरण्यमें, स्वामीकी अनुमतिके बिना न लेना। परन्तु मार्क्सवादी बनकर राहुलजी उस बातको भूल जाते हैं और कहने लगते हैं कि 'शोषककी वस्तु छीन लेना न्याय ही है।' कोई भी डाकू या चोर किसी किसानकी वस्तुको अपहरणकर अदालतके सामने यह कह सकता है कि 'यह किसान उत्पादनके साधन भूमिको अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाता है। अतः यह इसकी वैध सम्पत्ति नहीं। इसका हरण कर लेना डाका या चोरी नहीं।' किंतु क्या राहुलजीके हजार सिफारिश करनेपर भी वह दण्डसे छुटकारा पा सकता है या चोर-डाकू नहीं कहा जायगा? जब लोक और शास्त्र के अनुसार दूसरोंकी प्रसिद्ध वैध भूमि आदि व्यक्तिगत सम्पत्तिका हरण कर लेना मार्क्सवादमें मान्य है ही, तब मार्क्सके मतमें परकीय वस्तुका अपहरण न्याय ही है, अन्याय नहीं। मूल पुस्तककी यह सत्य बात राहुलजी जैसे मिथ्या प्रलापीको छोड़ कौन झूठ कह सकता है? मान लीजिये, किसीने अपने शारीरिक या मानसिक परिश्रमसे दो सौ रुपया महीना कमाया। अपना और बच्चोंका पेट काटकर दस सालमें २०००) दो हजार बचाकर आटा पीसने या कुट्टी काटनेकी मशीन खरीद ली। परन्तु कम्युनिस्टोंके अनुसार वह उत्पादन-साधन है, अतएव वह अवैध है। फिर तो उसे चुरानेवाले चोरको चोर ही नहीं कहना चाहिए। यदि वह चोर है, तो किसीकी वैध भूमि, सम्पत्ति, कल-कारखानोंका हरण करनेवाला मार्क्सवादी चोर क्यों न समझा जायगा? परकीय वैध वस्तुका हरण करना ही संसारमें चौर्य कहा जाता है। किंतु यही मार्क्सवादियोंकी अर्थनीति है।

कुछ व्यक्तियों या सभाओंके प्रस्तावोंके आधारपर शाश्वतिक सिद्धान्तोंमें रद्दोबदल नहीं हो सकता। इतिहासके आधारपर सिद्धान्तका निर्णय नहीं होता। जब पूर्वोक्त दाय, जय आदिसे प्राप्त भूमि, सम्पत्ति आदिपर व्यक्तिगत अधिकार मान्य है, तब कुछ लोगोंके प्रस्तावोंसे उनका रद्दोबदल कैसे हो सकता है? इन बातोंके सम्बन्धमें राहुलजी सिर्फ यही कहते हैं कि 'उसका समर्थन करोड़ों वर्ष पहले लुप्त हुए ऋषि-महर्षि भले ही कर लें, पर आजका बहुजन - समाज इसे पागलकी बलबलाहट ही कहेगा।' यही है राहुलजी के खण्डनकी युक्तियोंका नमूना! फिर तो उनकी सभी पुस्तकोंका खण्डन इतनेसे ही हो सकता है कि उनके लेखों, युक्तियोंका कुछ उच्छृङ्खलपन्थी डाकू और नास्तिक भले ही समर्थन करें, किन्तु सभ्य आस्तिक समाजमें तो उसे विषम सन्निपातका प्रलाप ही समझा जायगा।

स्पष्ट है कि बहुमत बनाया जाता है। पत्रों, पोस्टरों, व्याख्यानोंसे अनुकूल-प्रतिकूल सब तरहके मत बन जाते हैं। अतएव कभी आस्तिकों-का तो कभी नास्तिकोंका बहुमत हो जाता है। इस ढुलमुलपन्थी बहुमतके आधारपर धर्म-अधर्म या वैधता-अवैधताका निर्णय करना निरी मूर्खताके अतिरिक्त क्या है? यदि चौर्य, व्यभिचार आदि पाप है, तो उच्छृङ्खल-पन्थी नास्तिकोंके बहुमतसे वह पुण्य नहीं हो सकता। यदि लोक-वेदकी दृष्टिसे परस्वापहरण पाप है, तो राहुलजी जैसे लोगोंका बहुमत हजारों पाँव पीटे, तो भी वह पाप ही रहेगा। इसी तरह यदि मातृ-गमन पाप है, तो वह लाखों प्रस्तावोंसे पुण्य नहीं बन सकता। जड़वादी कम्युनिस्टोंको भले ही यह पागलपन जँचे, किन्तु जो

आस्तिक पुण्य-पाप मानते हैं और ईश्वरको कर्मफलदाता मानते हैं, उनके अनुसार कर्मफलदाता ईश्वर जबतक स्वीकार न करे, तबतक धर्म, अधर्म आदिमें रद्दोबदल नहीं हो सकता। जो धर्माधर्म, पुण्य-पाप, परलोक, स्वर्ग-नरक, आत्मा आदि मानते ही नहीं, 'यावज्जीवं सुखं जीवेत् हत्वा हत्वा सुरां पिबेत्' के नारेमें मस्त हैं, उनकी तो बात ही अलग है।

राहुलजी जैसे लोग कहते हैं कि 'हम लोग मनमानी काम करते हैं, उसका फल भी प्रत्यक्ष होता है। शास्त्र हमारा क्या कर लेते हैं।' परन्तु इसपर कहना यही है कि यों तो मातृगमन भी किया जा सकता है। उसका फल सन्तानोत्पत्ति भी होती है; परन्तु वह अवैध है। उसका दुष्परिणाम कालान्तरमें भोगना पड़ेगा। जबतक निग्रहीत नहीं होता, तबतक डाकू भी ऐसे ही अनर्गल प्रलाप किया करता है। राहुलजीके साथी कम्युनिस्ट यह भी कहते हैं कि यह अपहरण परोपकारार्थ है, अतएव चौर्य नहीं है। किंतु मानसिंह जैसे डाकू भी परोपकारी थे, इतनेसे ही डाका पुण्य नहीं हो जाता। परोपकार भी बपौतीकी सम्पत्ति या गाढ़े पसीनेकी कमाई आदि वैध धनसे करना ही उचित है, डाका डालकर नहीं। फिर कम्युनिस्टोंका परोपकार भी अपने दलतक ही सीमित रहता है। वैसे तो अपने दलका परोपकार डाकू भी करते हैं; किंतु क्या उसे भी परोपकार कहा जायगा?

ईश्वरवादी लोगोंकी दृष्टिमें ईश्वरीय नियम आदि अपरिवर्तनीय होते हैं। ईश्वरका मरना, हारना, अवकाश ग्रहण करना या अज्ञानी होना सम्भव नहीं। अतएव ईश्वरीय नियमोंपर प्रस्तावोंका वैसे ही

असर नहीं पड़ता, जैसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जल आदिके स्वभावोंमें परिवर्तन नहीं होता। कोई समाज या व्यक्ति मोहवश परस्वापहरण, मातृगमन आदिको भले ही धर्म घोषित करे, फिर भी वह ईश्वरीय दण्डसे बच नहीं सकता।

पूर्ववृत्त घटनाओंको ही 'इतिहास' कहा जाता है। घटनाएँ भली-बुरी दोनों प्रकारकी होती हैं। अधिकांश घटनाएँ बुरी ही होती हैं। उनके आधारपर यदि धार्मिक, सामाजिक सिद्धान्त बनाये जायँ, तो कभी उन्नतिकी आशा ही नहीं की जा सकती। व्यवहारमें भी 'संविधान' का आदर होता है; 'इतिहास' का नहीं। कोई बुद्धिमान् इतिहासके अनुसार नहीं, संविधानके अनुसार चलनेका आदेश देता है। संविधानके अनुसार ही ऐतिहासिक बातें भी आदरणीय होती हैं। इसीलिए प्रसिद्ध है कि रामादिकी तरह चलना चाहिए, रावणादिकी तरह नहीं। इतनी स्पष्ट बातोंपर राहुलजीका प्रलाप देख आश्चर्य होता है।

न भूमिः स्यात् इस सूत्रके संबंधमें भी राहुलजीका ज्ञान भ्रमात्मक ही है। पुस्तकमें शबरस्वामी एवं माधवाचार्यसम्मत ही सूत्रार्थ वर्णित है। ब्राह्मणग्रन्थों एवं श्रीमद्भागवतमें स्पष्टरूपसे सम्राटों द्वारा प्राची, प्रतीची, अवाची, उदीची तथा मध्यकी भूमिका तत्तत् ऋत्विजोंके लिए दान वर्णित है। सुतरां सूत्रका भी तदनुकूल ही अर्थ होना उचित है। शाबर-भाष्यमें 'भूमि' का अर्थ 'महाभूमि' किया गया है। अर्थात् राजमार्गादिसहित महाभूमिका दान नहीं हो सकता, खण्ड-खण्ड भूमिका दान तो हो ही सकता है। जैसे सामान्य रूपसे सम्पूर्ण वस्तुओंका कारण ईश्वर होता है, वैसे ही शुभाशुभ कर्मोंद्वारा जीव भी कारण

होता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि जगत् समष्टि जीवोंके कर्मोंका फल है। अतः सभीको उसके उपभोगका अधिकार है ही। जय, क्रय, दान आदिद्वारा विभिन्न भूखण्डोंपर अधिकार होता है। वहाँका पूरा प्रसङ्ग इस प्रकार है :

न भूमिः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्।

(जैमिनि-सूत्र, ६।७।२।३)

यदा सार्वभौमो राजा विश्वजिदादौ सर्वस्वं ददाति, तदा गोपथ-राजमार्ग-जलाशयादिभिरन्विता महाभूमिस्तेन दातव्या।

अर्थात् विश्वजित्-यज्ञमें सार्वभौम राजा सर्वस्व-दान देते हुए भूमिका दान करे या न करे, ऐसी आशङ्कापर पूर्वपक्ष है कि राजा सबका स्वामी होनेसे भूमिका भी स्वामी है; अतः वह गोपथ, चत्वर (क्रीड़ा, विहारादि स्थल), राजमार्ग, जलाशय, देवतायतन आदि विशिष्ट भूमिका दान कर सकता है। उत्तर पक्ष है कि दुष्टनिग्रह और शिष्टानुग्रह ही राजाका शासन है। अतः राजाका असाधारण स्वत्व गोपथ, चत्वर, राजमार्ग, जलाशय, देवायतनादि विशिष्ट भूमिपर नहीं है। किन्तु अपने कर्मफलों-का भोग करनेवाले सभीका स्वत्व उस विशिष्ट भूमिपर है। राजमार्ग, गोपथ, जलाशय, देवतायतनादिसहित अखण्ड भूमिका दान नहीं हो सकता। तद्भिन्न भूमिखण्डोंका दान तो राजा कर ही सकता है। ब्राह्मणों, धर्मशास्त्रों, भारतादि इतिहासों एवं भागवतादि पुराणोंमें भूमिदानका उल्लेख है। अतः उसके अनुसार ही सूत्रार्थ उचित है। बलिने वामन-को, परशुरामने कश्यपको एवं रामने यज्ञमें ऋत्विजोंको भूमिदान किया था, यह प्रसिद्ध ही है। अतः अखण्ड भूमिका दान नहीं हो सकता, यही

जैमिनि-सूत्रका अर्थ है। खण्ड-खण्ड भूमिका दान हो ही सकता है।

राहुलजी सन्त विनोबाके भूमिदानका गुणगान करने लगे। पर यदि भूमिदान सङ्गत ही नहीं, तो राहुलजीका उससे क्या तुक? आपे लिखते हैं : 'महाराज वेध कानूनी मार्गको वैध मार्ग नहीं मानते। उनके लिए वही मार्ग वैध है, जो श्रुतियों, स्मृतियोंमें बतलाया गया है।' परन्तु यदि राहुलजीने मार्क्सवादका ठीक अध्ययन किया होता, तो उन्हें मालूम होता कि मार्क्सवादी भी सभी कानूनी मार्गोंको वैध नहीं मानते। कम्युनिस्ट सरकारोंसे अतिरिक्त सरकारों द्वारा बनाये गये कानूनोंका कम्युनिस्ट भी कुछ महत्त्व नहीं मानते। फिर जहाँ जड़वादी राहुलके साथी अपनी पार्टीके विरुद्ध कानूनोंको वैध नहीं मानते, वहाँ ईश्वरवादी वेदादि शास्त्रविरुद्ध कानूनोंको वैध न मानें, तो उसमें आश्चर्य क्यों होता है?

आगे राहुलजी अतिरिक्त आयसम्बन्धी अधूरे वाक्योंको ले उड़े हैं। वस्तुतः इसपर प्रस्तुत पुस्तकमें पर्याप्त विचार है। मार्क्सवादियोंकी अतिरिक्त आपकी परिभाषा अन्य है, जब कि शास्त्रवादियोंकी परिभाषा अन्य है। मूल पुस्तकमें ३१७ पृष्ठसे ३५७ तक इस विषयका विचार किया गया है। उसीमें 'मूल्यका आधार', 'अतिरिक्त लाभ', 'उपयोगी वस्तु और सौदेकी वस्तु' 'लाभ या मुनाफा', 'अतिरिक्त श्रम और मुनाफा', 'पूंजी और श्रम', 'अतिरिक्त आय और अन्तर्विरोध'पर विचार किया गया है। यदि उसका अध्ययन करके कोई कम्युनिस्ट खण्डन लिखे, तो अवश्य बुद्धिमानीकी बात कही जा सकती है। वस्तुतः राहुलजीकी पुस्तक पढ़नेपर कोई भी यही समझ सकता है कि वे विचार करने नहीं बैठे हैं। केवल उलटी-पुलटी बात लिखकर मूल पुस्तककी ओरसे लोगोंको गुमराह करना ही चाहते हैं।

इसी तरह राहुलजीने कर्मानुसारी फलसम्बन्धी सिद्धान्तपर भी कुछ अनर्गल प्रलाप किया है, जो उनके स्वभावके अनुसार ही है। जैसे कोई चूहा आँख मूँदकर बिल्लेके खतरेसे बचना चाहे, वैसे ही **भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः** कहकर आप अपने पापकर्मोंके दुष्परिणामोंसे बचने की दुराशामात्र करते हैं।

राहुलजीने अपनी पुस्तकके २९ वें पृष्ठपर 'उत्पादन-साधनके रद्दोबदल का मुख्यश्रेय पूंजीपतियोंको ही क्यों न दिया जाय?' इसपर भी मखौल उड़ाया है। परन्तु वे यह नहीं जानते कि उनके मार्क्सवादी सज्जनोंके ही लेखोंके आधारपर यह सिद्ध होता है कि उत्पादन-साधनोंका विकाश पूँजीपतियोंके द्वारा ही होता है। ३० और ३१ वें पृष्ठमें उद्धृत वाक्योंका उत्तर राहुलजीको केवल यही सूझा है कि मूँदड़ा और डालमियाके हालके काम इसके गवाह हैं। यही है **शेषं कोपेन पूरयेत्** का नमूना! शोषक, पूँजीपति, सेठका नाम ले लेना सब तर्कोंका उत्तर हो गया! रामराज्य-वादमें अपराधी चाहे राजा हो, चाहे सेठ, वह पूर्ण दण्डनीय होता है और निरपराध जो भी हो, वह अनुग्राह्य। पुस्तकसें **शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्** सूत्र एवं उसके अभिप्रायका उद्धरण तो कर दिया गया, परन्तु उसपर विचार और उत्तर शून्य ही है।

शांकर वेदान्त

अपनी पुस्तकके पृष्ठ ६० पर राहुलजीने लिखा है: 'स्वामीजीने कहा है कि 'शङ्करका मायावाद यद्यपि बौद्ध विज्ञानवादसे निकला है, लेकिन अपने उद्गमके दृढ़ अंशको हटाकर ही।' आपका यह कथन भी

सर्वथा झूठ है। यह बात वे पुस्तकभरमें दिखा दें, तो इसी बातपर उनका पक्ष माना लिया जायगा।

आगे चलकर राहुलजी दार्शनिक विचार करते हैं और सर्वथा असम्बद्ध आलाप करते हुए 'अचेतनोंकी प्रवृत्ति चेतनाधिष्ठित होती है'- इस सांख्य-वेदान्तसम्मत सिद्धान्तका खण्डन करनेका प्रयत्न करते हुए कहते हैं कि 'क्रियाहीन पुरुषसे प्रकृतिमें गति कैसे हो सकती है? घोड़ा यदि स्थाणु होता, तो क्या उससे रथ चल सकता था? सामग्रीका एकत्रित हो जाना कारण बन जाता है। इसे बौद्ध-दर्शन सम्यक् रूपसे रखता है। न चैकमेकमेव स्यात् सामग्र्या: सर्वसम्भवः। (प्रमाणवार्तिक)।' उन्हें आँख खोलकर देखना चाहिए कि यदि अचेतनसे ही सब काम चल जाय, तब तो फिर विभिन्न कार्योंके लिए चेतनोंकी अपेक्षा ही क्यों हो? विभिन्न वैज्ञानिक, कारीगर, मजदूर, इञ्जीनियर आदिके बिना भूतोंसे ही सब कुछ बन जाना चाहिए। एकत्रित सामग्री कारण भले बन जाय, पर वह कर्ता नहीं बनती। साथ ही सामग्रीका एकत्रीकरण चेतनाधीन ही है। इसका अपलाप करनेवाला प्रत्यक्षका ही अपलाप कर रहा है। पुस्तक और लेख लिखनेवाले राहुलजी चेतन हैं या जड़? क्या ऐसे ही जड़ भूत भी पुस्तक लिख देगा, शास्त्रार्थ कर लेगा? अचेतनकी प्रवृत्ति भले ही न हो, परन्तु अन्वय-व्यतिरेकसे अचेतनकी प्रवृत्ति चेतनसे होती ही है। यह नियम नहीं कि प्रवृत्तिशील ही प्रवर्तक होता है। चुम्बक स्वयं अप्रवृत्त रहकर भी लोहका प्रवर्तक होता ही है।

सांख्यका 'पङ्ग्वन्ध'- दृष्टान्त समझनेका राहुलजीने प्रयत्नशील ही नहीं किया। उस दृष्टान्तका आशय यह था कि जैसे प्रवृत्तिरहित रहकर

भी पंगु ज्ञानद्वारा अन्धकी उचित प्रवृत्ति कराता है, वैसे ही प्रवृत्ति-रहित पुरुष प्रकृतिकी प्रवृत्तिका हेतु होता है। अचेतनमें इच्छितृत्व न होनेसे कर्तृत्व सम्भव नहीं। लोकमें प्रसिद्धि है: जानाति, इच्छति, अथ करोति।—प्राणी पहले जानता है, फिर इच्छा करता है और उसके बाद कर्म करता है। यह सब अचेतनमें न होकर चेतनमें ही सम्भव है। अतएव प्रत्येक कार्यका ज्ञानवान्, इच्छावान् एवं क्रियावान् चेतन ही कर्ता होता है। चेतनमें स्वतः कर्तृत्व न होनेपर भी देहादियोग-से वह आरोपित होता ही है। अतएव कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् इत्यादि सूत्रोंसे चेतनमें आध्यासिक कर्तृत्व कहा गया है। सांख्यमतानुसार प्रकृति-पुरुषके विवेकाग्रहमूलक ही पुरुषमें कर्तृत्वाभिमान होता है। सांख्य और वेदान्त दोनोंका इस अंशमें मेल ही है कि चेतनाधिष्ठित ही अचेतनकी प्रवृत्ति होती है। किन्तु राहुलजी तो बौद्धवाद और मार्क्सवाद जैसी विरुद्ध नावोंपर पांव रख नदी पार करना चाहते हैं। स्पष्ट है कि बौद्धका विज्ञानवाद मार्क्सीय जड़वादसे अत्यन्त भिन्न है। बौद्धका विज्ञान आत्मा चेतन है, जड़ नहीं। वह देहादिसे भिन्न है। जड़ भूत वेदान्त-मतमें तो फिर भी अनिर्वचनीय है, पर बौद्ध-मतमें तो वह सर्वथा असत् ही है। यह है राहुलजीके दार्शनिक शास्त्रार्थका नमूना। चेतन कुलालादिकर्तृक घटादि आस्तिकका दृष्टान्त वादि-प्रतिवादी उभयसम्मत है। किन्तु अचेतन स्वयं कर्ता है, यह जड़वादीका स्वगोष्ठीनिष्ठ सिद्धान्त है।

राहुलजी कहते हैं कि 'एक कारणसे कोई भी कार्य नहीं बनता। दुनियामें इसका कोई दृष्टान्त नहीं है। घटके निर्माणमें मिट्टी या

कुम्भकारके अतिरिक्त दण्ड, चक्र आदि भी कारण होते हैं।' किन्तु बौद्धमतमें कार्योंका क्या कारण है? यदि जड़प्रपञ्च स्वतःसिद्ध है, तो उसे असत् कैसे कहा जा सकता है? क्या स्वतःसिद्ध विज्ञान असत् है? फिर आपके बुद्धका अन्तिम सिद्धान्त तो शून्य ही था। उस शून्यकी अपेक्षा अखण्ड, अनन्त, आनन्दस्वरूप ब्रह्म करोड़ों गुना अच्छा है ही। उससे विद्वेष किसी आत्मघातीको ही हो सकता है। वेदान्तकी दृष्टिसे सांख्यके प्रकृति, पुरुष दोनों ही व्यावहारिक हैं। अतः उनमें पंगुता-अंधता श्लिष्ट है।

आगे आप लिखते हैं कि 'गति या क्षण-क्षणमें आमूल परिवर्तन विश्वका सार्वत्रिक नियम है। यह देश-कालकी अव्यक्त गतिको व्यक्त करता है और व्यक्तको भी अव्यक्त करता है। विकाशवाद दिमागी उड़ान नहीं, अफीमचियोंकी पिनक ही है।' सचमुच यह सनकियोंकी सनक ही है। पुस्तकमें विकाशवादका समूलोन्मूलन कर दिया गया है। प्रश्न यह है कि आपका क्षण-क्षणमें आमूल परिवर्तित विश्व स्वयं क्षणिक है। क्षणमें आमूल परिवर्तन होता है, तो उस परिवर्तित विश्वमें कोई अनुवृत्त, एकरस वस्तु है या नहीं? यदि है, तो सब वस्तुएँ क्षणिक न हुईं; अतः क्षणभंग भंग हो गया। यदि नहीं, तो निरन्वय नाश और परिवर्तनमें क्या अन्तर है? यदि कोई अन्तर नहीं, तब क्षणभरमें नष्ट हो जानेवाले विश्वका नियम भी क्या हो सकता है? फिर वह क्षण-भंगुर जब उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, तब अन्यकी व्यक्तता या अव्यक्तता कैसे करेगा? कारणको कमसे कम त्रिक्षणावस्थायी तो होना ही चाहिए। राहुलजी कुछ भी कहें, किंतु त्रिपथाज्ञ के उद्धृत सिद्धान्तों

जैसी चीजोंका पूर्ण खण्डन पुस्तकमें है। मार्क्स डार्विनके विकाशसे भिन्न ढङ्गका विकास मानता है। हालडेन द्वारा दिये गये विष्णुके अवतारोंसे राहुलजीको क्या मतलब ? वे तो जड़वादी नास्तिक हैं, पुराण आदि मानते ही नहीं। हालडेन आदिकी बातोंका उत्तर पुस्तकके 'लुप्त जन्तु' एवं 'गर्भ-शास्त्र' आदि शीर्षकोंमें दिया गया है। उसे फिरसे पढ़कर आप अपना ज्ञानवर्धन करें।

राहुलजी विकाशवादकी बहकमें अनर्गल प्रलाप भी करने लगते हैं और 'सारी पृथ्वीका पता लगाना कठिन है' यह कहनेवालेको 'महा-मण्डूक' कहनेकी धृष्टता करते हैं। किन्तु वैज्ञानिकोंका कहना है कि हमारी पृथ्वी जैसे हजारों नहीं, अगणित गोलक हैं। सम्भव है, कुछ दिनोंमें इस पृथ्वीसे जीव समाप्त हो जायँ। अन्य किसी लोकमें उनकी उत्पत्ति हो। आजकल तो अन्य लोकोंकी उड़न-तश्तरियोंकी चर्चा भी पर्याप्त है। दूसरे लोकोंमें पहुँचनेकी भी होड़ लग रही है। फिर वहाँ गन्धवती पृथ्वी होगी या नहीं ? चन्द्रमामें भी पहाड़ आदिके चित्र आये हैं। क्या वे पहाड़ पृथ्वी नहीं हैं ? फिर बतायें कि कौन मण्डूक हैं ? क्या वे लोग, जो उसकी विशिष्टताका अनुभव करते हैं ?

राहुलजी विकाशवाद द्वारा धर्मपर किये गये प्रहारसे प्रसन्न होते हैं। किंतु गौतम बुद्धके पुत्र राहुलका नाम अपनानेवाले राहुलजी क्या गौतम बुद्धके धर्मपर भी प्रहार स्वीकार करते हैं ? पुण्य, पाप, परलोक आदि बातोंपर भी राहुलजी नाक-भौंह सिकोड़ लेते हैं। किंतु उनके दादा गौतम बुद्ध भी तो धर्माधर्म, परलोक आदि मानते ही थे। यह दूसरी बात है कि वे वेदविरोधी रहे हों।

छठे प्रकरणमें राहुलजी श्रीशङ्कराचार्यके ब्रह्मवादपर कुछ अनर्गल प्रलाप करते हुए कहते हैं : 'शङ्कर ब्रह्मको ही वास्तविक मानते हैं, उसके अतिरिक्त, जगत्को मायामात्र मानते हैं। यद्यपि उपनिषदोंमें भी ब्रह्मको माना गया है, पर उपनिषदोंकी परस्पर-विरोधी-सी लगानेवाली बातोंका समाधान करनेके लिए बादरायणने 'ब्रह्मसूत्र' रचा है। शङ्कराचार्यने ब्रह्मसूत्रका भाष्य रचकर उसे मायावादका समर्थक बनाना चाहा है, पर वे सूत्र उनका साथ देनेमें तैयार नहीं।' अभी पीछे ही राहुलजीने बादरायणके सूत्रोंको उपनिषदोंके सामने तुच्छ कहा है, परन्तु यहाँ समन्वयकारक मान लिया। वस्तुतः जड़वादी एवं अनात्मवादीकी दृष्टिसे न उपनिषदें मान्य हैं, न बादरायण-सूत्र ही। जो उपनिषदों और सूत्रोंको श्रद्धासे पढ़ते हैं, उनकी दृष्टिसे शाङ्कर-सिद्धान्त ब्रह्मवाद है, मायावाद नहीं और वही औपनिषद तथा सौत्र भी है।

आगे वे लिखते हैं कि 'शङ्करके अनुसार जीव ब्रह्म ही है। भेद मायासे है। जीव स्वतः मुक्त है। जीव ब्रह्मसे अभिन्न है। पर बादरायणने मुक्त जीवका मुक्ति-अवस्थामें भी ब्रह्मसे केवल भोगमें साम्य माना है, और बातोंमें नहीं।' वस्तुतः वेदान्तका क-ख-ग भी जाननेवाला आपकी इस बातपर हँसेगा। यदि आप 'मार्क्सवाद और रामराज्य' भी ठीकसे पढ़ जाते, तो ऐसी भ्रान्तियाँ दूर हो जातीं। जीव और ब्रह्मका वास्तविक अभेद होते हुए भी मायिक भेद तो होते हैं ही। उन मायिक भेदोंको मिटानेके लिए ही कर्म, उपासना, तत्त्वज्ञानादि अपेक्षित होते हैं। तत्त्वज्ञान होनेसे ही मायिक भेदोंकी निवृत्ति एवं निरावरण प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप मुक्ति होती है। बादरायण जिस मुक्ति-

अवस्थामें ब्रह्मसे जीवकी भोगमें समता मानते हैं, वह है अपरब्रह्म-प्राप्तिरूप मुक्ति। यही 'सालोक्य', 'सामीप्य' आदि मुक्तियोंके रूपमें प्रसिद्ध है। कैवल्य-मुक्तिका सूचक सूत्र है : अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः। इसमें न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार 'ब्रह्मात्मनाऽवस्थान' को ही मुक्ति कहा गया है। विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्धोंके यहाँ भी विज्ञान या शून्यव्यतिरिक्त सब कुछ असत् ही है। फिर योगाभ्यास और तत्त्वज्ञानका अभ्यास किसलिए? इस तरह पहले अपने मतका समाधानकर अपनी दाढ़ीकी आग बुझानी चाहिए। ब्रह्मवाद समझना तो दूरकी बात है। नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्—अवेदवित् ब्रह्मतत्त्वको जान ही नहीं सकता।

राहुलजी फिर वही मिथ्या प्रलाप करते हैं कि "वस्तुतः शङ्करका अद्वैतवाद बौद्ध विज्ञानवादका ही विकृत रूप है। बौद्ध विज्ञानवादी सद्भूत तत्त्वको विज्ञान और साथ ही उसे क्षणिक मानते हैं। इस प्रकार विज्ञानमें प्रतिक्षण वास्तविक परिवर्तन होनेके कारण उन्हें माया या अध्यास माननेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। वे 'वीचीतरङ्ग' न्याय-से अनन्त विज्ञान-समुद्रमें प्रतिक्षण उठती तरङ्गोंके कारण जगत्की उत्पत्ति मानते हैं।' किन्तु राहुलजीका उक्त कथन भी निराधार ही है। वस्तुतः बौद्धोंका विज्ञान बुद्धिवृत्तिमात्र है। अतएव वह क्षणिक है। शङ्करका औपनिषद ब्रह्म उन क्षणभंगुर वृत्तियोंका साक्षी, द्रष्टा, कूटस्थ एवं अद्वितीय, अनन्त है। वस्तुतः आजकलके बौद्ध ही शङ्कराचार्यके सिद्धान्त-का अनुसरण करने लगे हैं। बौद्ध-धर्मदर्शनके लेखक तथा अनेक विद्वानोंने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि 'बौद्धोंका विज्ञान या शून्य क्षणिक

बुद्धिवृत्तिरूप या अभावरूप नहीं है। किन्तु शङ्कराचार्य द्वारा वर्णित मनोवचनातीत, अद्वैत, कूटस्थ, अनन्त, विज्ञानरूप औपनिषद ब्रह्म ही है। कई प्रश्नोंपर बुद्धके मौनका यही अर्थ लगाया जाता है।

राहुलजीने 'सद्भूततत्त्व' को विज्ञान कहा है। इसका क्या यह अर्थ है कि अबाधित सत् ही विज्ञान है या किसी भी सद्भूतको विज्ञान कहा जा सकता है? पहला पक्ष सर्वथा निष्प्रमाण है। बौद्धोंके मतमें भूत बाह्य पदार्थ हैं और विज्ञान आंतर। आंतर अबाधित और बाह्य बाधित होता है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि इस तरह तो बाह्य घटादि भी आपकी दृष्टिसे अबाधित हैं ही। फिर उन्हें भी विज्ञान कहना पड़ेगा; किन्तु यह भी बौद्धोंको अमान्य है। इससे स्पष्ट है कि राहुलजीने बौद्ध-सिद्धांत भी ठीकसे नहीं समझा, केवल ग्रन्थ-चुम्बन ही किया है। किसी भी दर्शनका उन्हें सम्यक् ज्ञान नहीं और अपने अधूरे ज्ञानके आधारपर ही उन्होंने मार्क्सवाद और बौद्धवादको मिलानेका निरर्थक प्रयास किया है। वे दोनोंके ही ज्ञानसे वञ्चित हैं। अतः न तो मार्क्सवादी विद्वान् ही उनकी बात मान सकता है और न बौद्ध ही।

वस्तुतः बौद्ध-सिद्धान्त जहाँ उत्पन्न हुआ था, वहीं मर चुका शङ्कराचार्यके तर्कोंसे ध्वस्त बौद्धमत विदेशोंमें कथञ्चित् जीवित रहा, किन्तु अब वह जड़ भौतिकवादमें विलीन होने जा रहा है। आपने विज्ञान-समुद्रकी तरङ्गोंके कारण जगत्की उत्पत्ति मानी है। किन्तु क्षणिक पदार्थ क्या किसीका कारण बन सकता है? जो उत्पन्न होते ही स्वयं नष्ट हो जाता है, क्या वह भी किसीका कारण होता है? कोई पदार्थ उत्पन्न होकर कुछ क्षण स्थिर रहकर ही कोई कार्य कर सकता है। यदि प्रवाह-

को स्थिर कहें, तो यदि वह सत् है, तो उसे भी क्षणिक ही कहना पड़ेगा। यदि असत् है, तो उसमें कार्य-कारणक्षमता कैसे आयेगी? फिर प्रवाहातिरिक्त प्रवाही सिद्ध भी नहीं होता।

राहुलजी कहते हैं कि 'द्रष्टा मानने मात्रसे काम नहीं चलेगा, किंतु उसे भोक्ता भी मानना पड़ेगा। पर ऐसा माननेपर वेदान्तियोंको लेनेके देने पड़ जायँगे।' क्षुद्र लोगोंके ऐसे अनर्गल प्रलाप वेदान्तियोंपर प्रभावशाली नहीं होते। वेदान्तमतमें व्यावहारिक दृष्टिसे कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व दोनों ही मान्य है। परमार्थतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही आत्मामें नहीं हैं। अनिर्वचनीयताका अर्थ भी न समझते हुए राहुलजी कहते हैं कि 'अनिर्वचनीय कहनेसे काम नहीं चलेगा।' किन्तु किसी पदार्थके स्वभावका पर्यनुयोग नहीं किया जा सकता। अग्नि उष्ण क्यों, जल शीतल क्यों, यह प्रश्न व्यर्थ ही समझा जाता है। तत्त्वरूपसे या अतत्त्वरूपसे निर्वचन न होना ही ब्रह्मातिरिक्त वस्तुओंका स्वभाव है। यह पर्यनुयोग नहीं, वस्तुस्थिति है।

राहुलजीने अन्य बौद्धोंकी नकल करते हुए 'माण्डूक्य-उपनिषद्' की 'गौडपादीय कारिकाएँ' उद्धृत की हैं। किन्तु वे कारिकाएँ यद्यपि उन बौद्धोंके पक्षमें कुछ सङ्गत हो जाती हैं, जो अपने विज्ञानको क्षणिक न मानकर कूटस्थ नित्य, ब्रह्मरूप ही मानते हैं। लेकिन राहुलजीके क्षणिक विज्ञानका समर्थन तो उन कारिकाओंसे सर्वथा ही नहीं होता। जैसे :

ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान्।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्॥

अर्थात् जो ज्ञेय ब्रह्मसे अभिन्न, आकाशतुल्य, नित्य, निर्विकार, अनन्त, अद्वितीय ज्ञानसे गगनतुल्य व्यापक धर्मोंमें औपाधिक भेदभिन्न जीवोंको जानता है, उस सम्बुद्ध (सम्यक् ज्ञानसम्पन्न) नरोत्तमस्वरूप द्विपदश्रेष्ठ नारायणकी हम वन्दना करते हैं। क्षणिक विज्ञानवादियों-का विज्ञान क्षणिक होनेसे कभी आकाशकल्प हो ही नहीं सकता। उनके मतमें कोई धर्म भी गगनोपम नहीं हो सकता। इसी तरह उनका ज्ञान ज्ञेयाभिन्न भी नहीं हो सकता, क्योंकि उनके सभी ज्ञेय असत् ही हैं। यदि ज्ञान असत् ज्ञेयसे अभिन्न होगा, तो उसे भी असत् होना पड़ेगा। हाँ, जो विज्ञानको क्षणिक न मानकर ब्रह्मरूप, कूटस्थ, नित्य, व्यापक विज्ञानको ही बौद्धोंका विज्ञान या शून्य मानते हैं, वे ऐसा कह सकते हैं। किन्तु उनका भी ऐसा मानना शाङ्कर-सिद्धान्तके सामने पराजय स्वीकार करना ही है। यहाँ 'सम्बुद्ध' का अर्थ है जाननेवाला, तथागत नहीं। जैसे यः सर्वज्ञः इस उपनिषद्के 'सर्वज्ञ' से बुद्धका कोई सम्बन्ध नहीं, वैसे ही गौडपादीय कारिकाके 'संबुद्ध' से 'तथागत' का कोई सम्बन्ध नहीं। अन्य कारिका है :

अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः।
आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुद्ध्यन्त इति नायकाः॥

यहाँ 'धर्म' शब्दसे प्राणादि धारण करनेवाले, औपाधिक आत्मा जीव लिये गये हैं। उन्हीं उपाधि-भेदसे नानात्व भी उपपन्न होता है। वे सभी धर्म तत्त्वतः वैसे ही आवरणशून्य हैं, जैसे उलूकानुभवसिद्ध अन्धकारसे प्रावृत भी सूर्य वस्तुतः निरावरण एवं निस्तम होता है। अतएव औपाधिक मल, विक्षेप, आवरण आदिसे युक्त होते हुए भी

वे प्रकृत्या निर्मल हैं। स्वरूपतः वे आदिसे ही बुद्ध एवं मुक्त हैं, ऐसा ज्ञानिश्रेष्ठ जानते हैं।

कुछ लोग गौतम बुद्धको अवतारभूत बुद्ध समझते हैं। किंतु यह उचित नहीं। पुराणोंके आधारपर उनका भेद ही सिद्ध है। जैसे गृह-लक्ष्मी और लक्ष्मीमें महान् अन्तर है, वैसे ही बुद्ध एवं गौतम बुद्धमें महान् भेद है। राहुलजीने आगम-प्रकरणको 'आगमशास्त्र' भ्रमसे लिखा तथा कारिकाका ठीक अर्थ न समझकर भ्रमपूर्ण अर्थ किया है। बौद्धमतके अनुसार विज्ञान विविध विषयोपप्लवोंसे युक्त ही होता है। स्वयं ही वह क्षणभंगुर है, फिर निर्मल क्या होगा? राहुलजीके अनुसार चित्तविषय पदार्थको धर्म माना जाय, तो उसे बौद्धमतमें कभी प्रकृति-निर्मल कहा ही नहीं जाता। वे ज्ञानसे भिन्न असत् एवं ज्ञानकी असद-र्थावभासनशक्तिसे भासित होते हैं। फिर उनका आवरणहीन, बुद्ध एवं मुक्त होना किसी भी समझदार बौद्धको नहीं जँचेगा। इससे भी उनकी बौद्ध-धर्मकी अनभिज्ञता ही विदित होती है। राहुलजी दीपक बुझनेके तुल्य चित्ताभिज्वलनके खत्म हो जानेको ही 'निर्वाण' कहते हैं। जब उनके यहाँ आत्मा ही नहीं, तो मुक्ति या निर्वाण किसका होगा? जब निर्वाणमें आत्मनाश ही है (वैसे ही निर्वाण-मोक्षमें इस बातको बुद्धनायक जानते हैं), तो इस कथनकी क्या सङ्गति है? 'गौड़पाद अपने आगमशास्त्रमें बुद्धकी प्रशंसा और उन्हें नमस्कार करते हैं' राहुल-जीका यह कहना अत्यन्त निराधार एवं भ्रमपूर्ण है। वे माण्डूक्य-कारिका या 'आगमशास्त्र' दोनोंको एक समझते हैं, यह भी उनका भ्रम है। वस्तुतः माण्डूक्य-कारिकाका चौथा प्रकरण ही आगम-प्रकरण

कहा जाता है, आगमशास्त्र नहीं। 'अलात' उपमा क्षणिक विज्ञानवाद के अनुकूल है' यह भी कहना गलत है। बौद्धधर्मके आविर्भावसे बहुत पहले उपनिषदों और 'योगवासिष्ठ' में ऐसी उपमाओंका उल्लेख है।

ऋजुवक्रादिकाभासमलातं स्पन्दितं यथा।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानं स्पन्दितं तथा॥

जैसे अलात अर्थात् उल्मुक (ज्वलत्काष्ठ) स्पन्दित होकर घुमाया जाकर सीधा या टेढ़ा प्रतीत होता है, वैसे ही मायोपाधिसे स्पन्दित विज्ञान नित्यविज्ञानस्वरूप ब्रह्म ग्रहण - ग्राहक (प्रमेय, प्रमाणादि) रूपमें प्रतीत होता है। इस तरह यह कारिका अद्वैत-ब्रह्म पक्षमें सङ्गत होती है, क्षणिक विज्ञानपक्षमें नहीं। कारण क्षणिक विज्ञान तो स्वयं ग्रहण या ग्राहकरूप ही है। फिर वह स्पन्दित होकर शुद्ध ब्रह्मस्वरूप होता है, यह वेदान्त-सिद्धान्त है, बौद्ध-सिद्धांत नहीं। योगवासिष्ठमें कहा है :

स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितवपुर्महान्।
स मनाक् मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते॥

अर्थात् हे राम, नित्य, स्वप्रकाशस्वरूप आत्मा किञ्चित् मननी-शक्ति धारणकर 'मन' कहलाता है।

चित्तस्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद्द्वयम्।
चित्तं निर्विषयं नित्यमसङ्गं तेन कीर्तितम्॥

अर्थात् ग्राह्य-ग्राहकमय द्वैतप्रपञ्च चित्तका स्पन्दनमात्र है। स्वतः चित्त निर्विषय, असङ्ग, नित्य ब्रह्मस्वरूप ही है। यह कारिका भी विज्ञान-वादी बौद्धके क्षणिक-विज्ञानपक्षमें सङ्गत नहीं होती। जब राहुलजी सभी सत्पदार्थोंको यत्सत् तत्क्षणिकम् के अनुसार क्षणिक कहते हैं और

चित्तको ही विज्ञान मानते हैं, तब उनके अनुसार चित्तमें 'नित्यम्' यह विशेषण कैसे सङ्गत हो सकता है ? वेदान्तमतानुसार, पूर्वोक्त योगवासिष्ठके वचनानुसार असङ्ग, अनन्त, कूटस्थ, नित्य आत्मा ही मननी-शक्ति धारणकर मायाद्वारा 'मन' या 'चित्त'शब्द-व्यपदेश्य हो सकता है। इस तरह बौद्धके क्षणिक विज्ञान और अद्वैत-सिद्धान्तके सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्यादि श्रुतिशीर्षसम्मत कूटस्थ, नित्य विज्ञानानन्द ब्रह्ममें महान् अन्तर है। फिर भी उन्हें 'बौद्ध' या 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहना नितान्त भ्रमके अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? गौडपादने बुद्ध या बौद्ध-धर्मका समर्थन नहीं किया, किन्तु खण्डन ही किया है। नैतद् बुद्धेन भाषितम्—यह तत्त्व बुद्धने नहीं कहा, ऐसा उन्होंने स्पष्ट कहा है।

शाङ्कर एवं रामानुजीयोंका आपसी खण्डन-मण्डन चलता है। एक दूसरेपर आक्षेप भी करते हैं। किंतु बौद्ध एवं चार्वाक मत-खण्डनमें सभी एक साथ हैं। इतना ही क्यों, चार्वाकप्राय मार्क्सवाद - स्वीकृत भौतिकवादका तो बौद्ध, जैन आदि सभी खण्डन करते हैं। मार्क्सका भौतिकवाद सर्वसम्मतिसे प्रमाण-बहिष्कृत है। 'प्रत्यक्ष प्रमाणके अतिरिक्त प्रमाण नहीं है, प्रत्यक्ष ही प्रमाण है', भौतिकवादीका यह कथन भी वदतो-व्याघात है। यदि वह दूसरोंके संशय, विपर्यय, अज्ञान आदि बिना जाने उक्त वाक्योंका प्रयोग करता है, तो उन्मत्त ही समझा जायगा। यदि वह संशयादि जाननेके लिए अनुमान, शब्दादिका प्रामाण्य मानता है, तो सिद्धान्त-हानि होती है।

वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतो प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम् ।
बौद्धोऽनृतो बुद्धिफले तथाऽनृते यूयं च बौद्धाश्च समानसंसदः ॥

राहुलजीने रामानुजियोंकी इस कारिकाके बलपर मायावादका खण्डन करना चाहा है । किन्तु उन्हें यदि दार्शनिक बुद्धि प्राप्त होती, तो वे ऐसा न करते । वेदान्तमें वेदको अनृत कहनेका अर्थ यह है कि कार्य कारणसे अतिरिक्त होकर सत्य नहीं होता । वेद भी ब्रह्मकार्य है, अतएव ब्रह्मातिरिक्त नहीं है । वेद ही कहते हैं : अत्र वेदा अवेदा भवन्ति अर्थात् सुषुप्ति या प्रलयकालमें कारणभावापन्न होकर वेद उसी तरह अवेद होते हैं, जैसे मृत्तिकादशापन्न घट अघट हो जाता है । इतना ही नहीं, वेद स्वयं कहते हैं : वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो वेदान् वेद— वेद उसे परम पुरुषार्थसे वञ्चित कर देते हैं, जो वेदोंको ब्रह्मसे व्यतिरिक्त समझता है । अतएव वेदस्वरूपाभ्युपगन्तृत्व आस्तिकता नहीं है, किंतु वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तृत्व ही आस्तिकता है । वेद पुस्तकका स्वरूप तो राहुलजी जैसे जड़वादी भी मानते हैं, परन्तु उसका प्रामाण्य नहीं मानते । वेदान्ती ब्रह्मभावापन्न वेदको ब्रह्मरूप मानते हुए भी वेदोंका प्रामाण्य मानते हैं । बुद्धकृत आगमका अनृतत्व बाधितार्थप्रतिपादक होनेसे मान्य है । किंतु वेदान्त-मतमें ब्रह्मपरक वेदका अत्यन्ताबाध्य अर्थप्रतिपादकत्वेन पारमार्थिक प्रामाण्य है कर्मादिप्रतिपादक वेदभागका व्यावहारिक अबाध्यार्थ प्रतिपादक होनेसे व्यावहारिक प्रामाण्य मान्य है । किंतु बुद्धकृत आगम-में किसी भी दृष्टिसे अबाधितार्थप्रतिपादकता नहीं है । अतएव दोनोंके प्रामाण्यके अनृतत्वमें भी महान् अन्तर है । वेदान्तदृष्टिसे बुद्धि और बुद्धिफल मोक्षको अनृत कहा जाता है । इसका अभिप्राय यही है

कि ब्रह्मातिरिक्त रूपसे यह सब व्यावहारिक अर्थात् अनिर्वचनीय है। परमार्थतः सब ब्रह्मस्वरूप है। किन्तु बौद्धोंका ज्ञाता, ज्ञान, मोक्ष आदि सभी शून्यपर्यवसायी हैं। इस तरह वेदान्त एवं बौद्धमतमें आकाश-पाताल या प्रकाश-अंधकारके तुल्य महान् अन्तर है। यथाकथञ्चित् तुल्यता तो सबकी सबके साथ है। जड़ देह द्वारा व्यवहार करना सभीके यहाँ तुल्य है। किंतु एतावता क्या किसी अध्यात्मवादीको जड़वादी कहा जा सकता है?

बौद्ध क्षणभंगुर विज्ञान या शून्यको ही तत्त्व मानते हैं, तो वेदांती कूटस्थ, नित्य, विज्ञानानन्द-सुधासिन्धु ब्रह्मको तत्त्व मानते हैं। वेदांती वेद एवं वर्णाश्रम धर्मके समर्थक हैं, बौद्ध वेद एवं वर्णाश्रम धर्मके विरोधी हैं। न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्माः यह वेदान्तका कथन ब्रह्मदृष्टिसे है। इसीलिए कभी-कभी राहुल जैसे नास्तिकोंको भ्रान्ति होने लगती है कि वेदान्ती हमारा समर्थन करते हैं। भारतीय दर्शनोंमें हजार वैरूप्य होते हुए भी मार्क्सके जड़वादके विरोधमें सबका ऐकमत्य है। वेद-प्रामाण्य माननेमें भी अधिकांश दार्शनिकोंका ऐकमत्य है।

राहुलजी कहते हैं कि 'ब्रह्ममें मिथ्या-कल्पित जगत् बालूके तेल जैसा ही है। अतः बौद्ध दार्शनिक साङ्ख्यके सत्कार्यवादके उत्तरमें असत्कार्यवादको मानते हैं। मार्क्स भी इस विषयमें बौद्धोंके साथ हैं। कारणसे कार्य बिलकुल ही अलग वस्तु है। दोनोंका सम्बन्ध यही है कि कारण अपने कार्यसे तुरन्त पूर्वमें था। क्षणभङ्गुर होनेसे कारण नष्ट हो गया और उसकी जगह कार्य-प्रवाह आ गया। कार्य हमेशा अपने कारणके सदृश होता है। इसीलिए एकताकी भ्रान्ति होती है। कारणोंमें

जिस चीजके बनानेकी सामर्थ्य होती है, वही उससे बनती है। बरगदके बीजमें बरगदके वृक्षको उत्पन्न करनेकी शक्ति है और वह नष्ट होकर उसीको उत्पन्न करता है।'

किन्तु राहुलजीका यह कथन अविचारित रमणीय है। यदि कार्य कारणसे भिन्न वस्तु हो, तो उसके कार्य-कारणभावका उपपादन ही नहीं हो सकता। अव्यवहित-क्षणपूर्ववर्तिता (तुरन्त पूर्वक्षणमें रहना) कार्य-कारणभावशून्य स्थलोंमें भी होती ही है। अतएव काकोड्डयन और तालफल-पतनमें अव्यवहित पौर्वापर्य होनेपर भी कार्य-कारणभाव मान्य नहीं होता। क्षणभङ्गुर पदार्थमें कारणता सम्भव भी नहीं। कोई पदार्थ उत्पत्ति-क्षणसे अतिरिक्त स्थिति-क्षणमें ही रहकर किसी कार्यका सम्पादन कर सकता है। जो उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, उसमें कारणताकी कल्पना अत्यन्त असङ्गत है। इसके अतिरिक्त कार्यमें कारणका समन्वय देखा जाता है। प्रत्येक स्वर्णकार्य (कटक, कुण्डल आदि) में 'स्वर्णमिदम्' इस प्रकार स्वर्णका अनुगम देखा जाता है। अबाधित प्रतीतिका विषय होनेसे उसे भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता। नैयायिक असत्कार्यवादी कहे जाते हैं और बौद्ध असत्कारणवादी। यदि असत्कार्यका सत्कारणके साथ सम्बन्ध नहीं हो पाता, तो सत्कार्यका असत्कारणके साथ भी सम्बन्ध सम्भव नहीं। कारक-व्यापारके पहले मृत्तिकामें घट नहीं होता। कारक-व्यापारसे घटोत्पत्ति होती है, इसलिए नैयायिक असत्कार्यको कारण-व्यापारसे जन्य मानते हैं। बौद्ध बीजध्वंससे अङ्कुरोत्पत्तिका दृष्टान्त देकर

असत्कारणसे कार्यकी उत्पत्ति मानते हैं। जैसे उत्तर क्षणमें कारणका असत्त्व होता है, वैसे ही कार्यका भी असत्त्व होता है। स्व-स्वक्षणमें दोनों ही सत् हैं। फिर तो इस सम्बन्धमें असत्-कारणवाद या असत्कार्यवाद दोनों ही सिद्ध नहीं होते। इसके अतिरिक्त यदि बीजनाशको अङ्कुरोत्पत्तिका कारण कहा जाय, तो बीजदाहको भी अङ्कुरोत्पत्तिका कारण कहना चाहिए। यदि दोनों नाशोंमें कुछ विशेषता है, तब जिस विशेषतासे युक्त नाशको कारण कहा जा सकता है, उस विशेषतामें ही कारणताका पर्यवसान है, नाशमें नहीं। कारणमें कार्योत्पादनकी शक्ति होती है, यह कहना भी सारशून्य है; क्योंकि यदि कार्योत्पत्तिके समय कारणकी स्थिरता रहे, तभी उसकी सामर्थ्यका कार्योत्पत्तिमें उपयोग हो सकता है। यदि सामर्थ्यसहित कारण नष्ट हो गया, उत्पत्ति - क्षणमें रहा ही नहीं, तो कारण या कारणकी सामर्थ्यका कार्योत्पत्तिमें उपयोग ही क्या? वस्तुतः कारणमें कार्योत्पादनानुकूल शक्ति स्वीकार कर लेना ही सत्कार्यवादकी स्वीकृति है। नैयायिक, वैशेषिक आदि सत्कार्यवाद नहीं मानते। अतएव कारणस्वरूपसे भिन्न शक्ति या सामर्थ्य नहीं स्वीकार करते।

वस्तुतः असत्‌में न कार्यता ही हो सकती है, न कारणता ही और न पौर्वापर्य ही बन सकता है। वन्ध्यापुत्र न किसीका कार्य होता है, न किसीका कारण और न वन्ध्यापुत्रोंमें पौर्वापर्य ही हो सकता है। प्रसिद्ध कहावत है कि जिसने जीवित-दशामें कुछ न किया, वह मरकर क्या कर सकेगा? कारण नष्ट होकर कार्य उत्पन्न करता है, यह ठीक वैसी ही बात है। अतः अङ्कुरोत्पत्तिका कार्य बीजध्वंससे न मानकर बीजावयवोंको ही

अङ्कुरका कारण मानना उचित है। वही कार्यमें अनुवृत्त भी रहता है।

कारणके सदृश ही कार्य उत्पन्न होता है, इसका भी नियामक क्या है? जैसे मृत्तिकासे घट भिन्न है, वैसे ही मृत्तिकासे पट भी भिन्न है। भिन्नता दोनोंमें समान रहनेपर भी मृत्तिका और घटका कार्यकारणभाव भी क्यों माना जाय? और सादृश्य भी किस आधारपर माना जाय? व्यावृत्तोंमें अनुवृत्त ही स्थायी माना जाता है। जैसे मालाके पुष्पोंकी व्यावृत्तिमें सूत्रकी अनुवृत्ति मानी जाती है, अतः सूत्र पुष्पोंकी अपेक्षा अनुवृत्त एवं स्थायी माना जाता है। सर्प, धारा, माला आदि विकल्पोंमें रज्जुका इदमंश अनुवृत्त माना जाता है। कटक, मुकुट, कुण्डलादि कार्योंमें स्वर्ण अनुवृत्त माना जाता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें 'अहं, अहं' (मैं मैं) अनुवृत्त माना जाता है। सैवेयं मृत्तिका, तदेवेदं स्वर्णम्, स एवाहम् (यह वही मृत्तिका है, यह वही स्वर्ण है, वही मैं हूं) इस रूपसे स्थायी वस्तुकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे भी अनुवृत्त कारण या अधिष्ठानमें स्थिरता विदित होती है। उक्त प्रत्यभिज्ञाको सादृश्यमूलक भ्रान्ति कहते हैं। किन्तु बाधके बिना किसी प्रतीतिको भ्रम नहीं कहा जा सकता। यहाँ तो 'यह वही है' ऐसी प्रतीति होती है, 'यह उसके सदृश है' ऐसी प्रतीति नहीं होती। इसके अतिरिक्त क्षणभङ्गवादीके मतमें सादृश्यग्रहण भी सम्भव नहीं; क्योंकि कोई स्थायी द्रष्टा ही पूर्वक्षणवर्ती तत् - पदार्थ एवं वर्तमान - क्षणवर्ती इदं - पदार्थका ग्रहणकर तृतीय क्षणमें तेनेदं सदृशम् (यह उसके समान है) इस रूपसे ग्रहण कर सकता है। क्षणभङ्गुर विज्ञान क्षणभरमें नष्ट हो जाता है, फिर वह अनेक क्षणसाध्य सादृश्यग्रहण कैसे कर सकता है?

'अचेतन चेतन नहीं बन सकता' पुस्तकके इस अंशका खण्डन करते हुए राहुलजी लिखते हैं कि 'फिर चेतन ही अचेतन कैसे बन सकेगा? मिथ्या-कल्पना कहना तो वाग्-जाल ही होगा।' परन्तु पृथिव्यादि कार्यों-की अपेक्षा अव्यक्तांत कारणोंमें सूक्ष्मता, स्वच्छता, व्यापकता, निर्विशेषता सिद्ध ही होती है। अन्तिम कारण या अधिष्ठानको स्वतःसिद्ध तदपेक्षया कार्योंकी स्वतःसिद्ध भिन्नता माननी पड़ेगी। स्वतःसिद्ध पदार्थ वही होता है, जिसकी सत्ता एवं स्फूर्ति अन्यनिरपेक्ष होती है। कल्पित या कार्य-पदार्थकी सत्ता एवं स्फूर्ति अधिष्ठानायत्त होती है। अंतिम कारण या अधिष्ठान निरपेक्ष सत्ता और स्फूर्तिवाला होता है। यही उसकी चेतनता है। लोकमें चेतनत्वेन प्रसिद्ध जीवित प्राणीसे अचेतन नखलो-मादिकी उत्पत्तिका दृष्टान्त भी है। परन्तु अचेतनसे चेतनकी उत्पत्तिका कोई दृष्टांत नहीं। गोबर आदिमें रहनेवाले चेतन सूक्ष्म कीटाणुओंसे ही बिच्छू आदि भी उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त चेतन स्वप्रकाश होनेसे स्वतःसिद्ध होता है। वही पारमार्थिक सत् होता है। अचेतनकी परप्रकाश्यता सर्वसम्मत है। अतः उसे स्वतःसिद्ध नहीं कहा जा सकता। परमार्थ सत् चेतनमें अपरमार्थ सत् अचेतनकी कल्पना हो सकती है, इसी दृष्टिसे चेतनका विकार अचेतन हो सकता है। किंतु चेतनको अचेतन-का विकार नहीं कहा जा सकता। कारण या अधिष्ठानकी परमार्थ सत्ता-में कार्यकी अपरमार्थ सत्ताका अन्तर्भाव हो सकता है। किंतु कार्यकी अपरमार्थ सत्तामें कारण या परमार्थ सत्ताका अन्तर्भाव नहीं कहा जा सकता। जो आत्मा, ईश्वर आदि मार्क्सवादियोंके प्रयोगमें न सिद्ध हों,

उनके अस्तित्वका ही अपलाप करनेसे बढ़कर सर्वज्ञताके दावेका दूसरा नमूना क्या होगा ? आस्तिक लोग वेदके अनुसार ही वेदादि शास्त्रोक्त धर्मानुष्ठानसे ऋषियोंकी सर्वज्ञता मानते हैं।

इसी तरह बौद्धोंको प्रत्यक्षमात्र-प्रामाण्यवादी भी कहना राहुलजी की बौद्ध-धर्मानभिज्ञता ही है। राहुलजी कहते हैं कि 'सारे जगत् और उसकी प्रत्येक वस्तुको मिथ्या बतलानेवाले वेदान्तियोंके पास क्या प्रमाण है ?' परन्तु इससे मालूम होता है कि वे बौद्ध - धर्मसे सर्वथा अपरिचित हैं। बौद्ध-धर्मके विज्ञानवादमें सम्पूर्ण बाह्यार्थ अत्यन्त असत् माना जाता है तथा शून्यवादमें आन्तर और बाह्य दोनों ही अर्थ असत् माने जाते हैं। फिर भी सांवृत सत्ताको लेकर बौद्धमतमें प्रमाण, प्रमेयादि सरा व्यवहार उपपन्न किया जाता है : द्वे सत्त्वे समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना। ऐसी स्थितिमें—

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तादृशः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यः, तादृगर्थविचारणे ॥

अर्थात् जहाँ जिस विचारमें दोनों पक्षोंमें समान दोष और परिहार समान होते हैं, वहाँ एक पक्ष दूसरेके लिए अपर्यनुयोज्य ही रहता है। यद्यपि बौद्धकी आत्मख्याति या असत्ख्याति और वेदान्तियोंकी अनिर्वचनीय-ख्यातिमें महान् अन्तर है। असत्में प्रमाण, प्रमेयादि व्यवहार सर्वथा असम्भव है। अनिर्वचनीय व्यावहारिक सत्तामें प्रमाण, प्रमेयादि-व्यवहार सम्यक् उपपन्न होते ही हैं। मार्क्सवादियों द्वारा अद्वैत - वेदान्तपर उठाये गये दुस्तर्क वेदान्तियोंकी अपेक्षा असद्वादी बौद्धोंपर ही अधिक लागू होते

हैं। सब कुछ शून्य मानते हुए बौद्ध-भिक्षु रोटी और चारपाईकी तलाशमें क्यों भटकते हैं ? वेदान्त-मतानुसार अनिर्वचनीय प्रारब्धशेष द्वारा अनिर्वचनीय प्रारब्धभोगके सम्पन्न होनेमें भी पारमार्थिक अद्वैत-सिद्धान्तमें कोई आँच नहीं आती।

राहुलजीको 'मिथ्या' शब्दसे भी भ्रान्ति हुई है। अन्य अनभिज्ञोंके समान उन्होंने भी मिथ्याशब्दका 'अपलाप' अर्थ समझ लिया है। किंतु वेदान्तके आचार्योंका कहना है कि मिथ्याशब्दो नापह्नववचनः किन्त्वनिर्वचनीयतावचनः अर्थात् बौद्धोंके समान अपलाप या अपह्नव मिथ्याशब्दका अर्थ नहीं है, किंतु सदसद्विलक्षणतारूप अनिर्वचनीयता ही वेदान्तके मिथ्याशब्दका अर्थ है। अतएव बौद्धके असत्कार्य-कारणवादकी अपेक्षा साङ्ख्योंका सत्कार्यवाद कहीं श्रेष्ठ है। यही कारण है कि गीता जैसे सार्वभौम सद्ग्रन्थ द्वारा भी नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यतेऽसतः से सत्कार्यवादका समर्थन किया गया है। वह सत्कार्यवाद वेदान्तके अनुकूल ही है।

सच्चा इतिहास

राहुलजी वेदादि शास्त्रोंकी ऐतिहासिक क्षमता अस्वीकार करते हुए भूगर्भमें अवस्थित सामग्रियोंको ही प्रमाण मानते हैं। इतिहासके आधार और प्रवृत्ति आदिपर यद्यपि हमारी पुस्तकमें ही पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की गयी है, किन्तु राहुलजी उससे आँख मींचना चाहते हैं। आखिर जब उनको सत्यपक्षके ज्ञानकी अपेक्षा नहीं, तो मिथ्या क्यों किसी पक्षपर हठाग्रह करते हैं ? भूगर्भकी स्थितिपर यहाँ भी कुछ तथ्य हम प्रस्तुत कर देते हैं।

आज इतिहासके आधार हैं, प्राचीन कूपोंमें गिरी कुछ मुद्राएं, टूटे-फूटे प्रस्तर-खंडोंपर या ईंटोंपर खुदे कुछ नाम, शासनसम्बन्धी नियमोंका शिलाओंपर उल्लेख आदि। ये ही पृथ्वी माता द्वारा प्रदत्त ऐतिहासिक अन्वेषणके आधार हैं। परन्तु इन आधारोंपर स्थिर जिन सत्योंका प्रतिपादन किया जाता है, क्या वे कभी अन्तिम रूप धारण कर सके? वस्तुतः उक्त सामग्रियाँ स्वयं सत्य नहीं प्रस्तुत करतीं उनके आधारपर अपनी-अपनी कल्पनानुसार उपन्यासका महल खड़ा किया जाता है। फलतः आज किसीकी कुछ कल्पना हुई, दूसरे दिन उसके विपरीत कल्पना कर दी गयी।

इतिहासकी आज उपलब्ध भूगर्भीय परम्पराके सामने कुछ आपत्तियाँ भी हैं। वैज्ञानिक एकस्वरसे मानते हैं कि पृथ्वीके निचले भागकी तह रूप-परिवर्तन करके एकाकार होने लगती हैं। ऊपरी भागपर नयी तहें जमने लगती हैं। उनका दबाव पड़ता है और नीचेकी तहें टूटकर रूप-परिवर्तन कर लेती हैं। इस प्रकार हम कैसे विश्वास कर लें कि लाखों वर्ष प्राचीन इतिहासकी वस्तुएं भूगर्भसे प्राप्त की जा सकती हैं? यदि कुछ प्राप्त भी होंगी, तो उनमें लौह और पाषाणके अतिरिक्त और क्या होगा? खेद है कि राहुलजी जिन आचार्योंकी परम्परा मानते हैं, वे उस कालको लौह और पाषाण-युग मानने लगते हैं। जब यह सम्भव नहीं कि समग्र भूखण्डका खनन किया जाय, तो कुछ स्थानोंकी सामग्रीसे प्राप्त कल्पित तथ्योंके आधारपर किसी बातको सार्वत्रिक और सार्वभौम कैसे कह देंगे। मान लीजिये किसी स्थानकी खुदाई हुई और वह स्थान बौद्ध-भिक्षुओंके

शव गाड़नेका रहा, जिनमें यदि कुछ प्राप्त होगा तो केवल कुछ मिट्टीके पात्र, तो क्या उन पात्रोंके आधारपर मान लिया जाय कि यह युग मिट्टीका युग था?

भारतवर्षके प्राचीन प्रमाण-ग्रन्थोंमें स्वर्ण-मन्दिर, सर्पमणियां, गजमुक्ता स्फटिकभवन, दिव्यरथ आदिका वर्णन मिलता है। उन्हें केवल गप्प कहनेका साहस राहुलजी भी नहीं कर सकते। लेकिन आजतककी खुदाईमें उक्त सामग्रियां कहीं उपलब्ध हो सकी हैं? ऐसी मणियोंका उल्लेख मिलता है, जिनमें प्रकाशकी दिव्य स्थिति रहती थी। किन्तु आज खुदाईमें कौन कहे, प्रत्यक्ष जगत्में भी वे उपलब्ध नहीं हैं। आजका सर्वोत्कृष्ट हीरा 'कोहेनूर' प्रकाश नहीं दे सकता, जिससे अन्यत्र कुछ दिखाई पड़ सकता हो। केवल प्रकाशसे वह अपनी स्थिति स्पष्ट कर देता है। ऐसी मणियों आदिकी समस्या केवल राहुलजीकी माता पृथ्वीके ही सामने नहीं अपितु सम्पत्तिके केवल भौतिक पक्ष माननेवाले लायक पुत्र राहुलजीके सामने भी है।

वस्तुतः इतिहास-लेखक अपनी पूर्व-कल्पनाओंसे बद्ध रहता है। भूगर्भकी यत्किञ्चित् उपलब्ध सामग्रीका प्रयोग वह उसी कल्पनाकी प्रामाणिकतामें करता है। कभी-कभी तो इन विषयोंमें धोखा भी दिया जाता है हिडेलवर्गकी खोपड़ियोंकी कथा ऐसी ही है। पहले तो उनके आधारपर बड़ा हल्ला मचाया गया। इतिहासकी नयी दिशा तैयार होने लगी। किंतु बादमें ज्ञात हुआ कि उसे राहुलजी जैसे सत्यान्वेषीने पृथ्वीमें गाड़ दिया था और वह अपने सत्यका प्रतिपादन कर रहा था। उसका काण्ड प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह कि भूगर्भकी सामग्रियोंसे निश्चित सत्यका पता

नहीं लग सकता। इतना अवश्य कि निश्चित सत्यमें निष्पन्नतासे उनका प्रयोग किया जा सकता है।

राहुलजीने अन्य बहुत-सी बातें 'मार्क्सवाद और रामराज्य' पुस्तकसे ही उद्धृत कर दी हैं। पर उनपर कुछ तर्क और युक्ति न लिखकर व्यङ्ग्य ही किया है। फिर पृष्ठ ८२ में वे कहते हैं कि 'जगत् तीन कालमें असत्य, अभूत, मिथ्या और कल्पित है, यह वेदान्तकी मान्यता है।' पुनश्च इसके विरुद्ध पुस्तकका उद्धरण देकर आप कहते हैं कि 'प्रमा यथार्थ ज्ञान और उसका कारण प्रमाण कूटस्थ अद्वैतवादमें हो ही नहीं सकता, क्योंकि मायावादमें प्रमाके सभी उपकरण पूरी तरहसे मिथ्या हैं।'

किन्तु राहुलजीका यह कहना अज्ञानमूलक है। वेदान्तका साधारण विद्यार्थी भी उनकी बालकों जैसी इस शङ्कापर हँसेगा। पीछे कहा ही जा चुका है कि वे वेदान्तके मिथ्या आदि शब्दोंका अर्थ ही नहीं समझते। वस्तुतः ये सब दोष उनके विज्ञानवादमें ही पड़ते हैं। कारण उनके यहाँ जगत् मिथ्या ही नहीं, अपितु वन्ध्यापुत्रादिवत् पूर्ण असत् है। असत्में कार्यता या कारणता दोनों ही नहीं बन सकतीं, यह कहा जा चुका है। वेदान्त-सिद्धान्तमें पदार्थस्वरूपका विचार करनेपर विविध प्रकारके सत्य प्रतीत होते हैं। एक असत्यन्ताबाध्य परमार्थ सत् ब्रह्म, दूसरा व्यवहारकालमें अबाध्य रहनेवाला आकाशादि, तीसरा व्यवहारमें बाध्य होनेपर भी प्रतिभासकालमें अबाधित रहनेवाला प्रातिभासिक पदार्थ शुक्ति-रूप्य, रज्जु-सर्प, स्वप्न, माया आदि। इस दृष्टिसे प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी यथार्थजनकतारूप प्रमाणता निर्विवाद

सिद्ध ही है। घटादिकी अत्यन्ताबाध्यता प्रमाणोंसे असिद्ध होनेपर भी व्यवहारकालाबाध्यतारूप व्यावहारिकता सम्मत ही है। वही नेत्ररूप प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध होती है। राहुलजीका विज्ञानरूप क्षणिक आत्मा उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। फिर उसे तो अन्यकी अबाध्यतारूप सत्यताका ज्ञान हो ही कैसे सकता है? यथार्थ ज्ञानरूप प्रमा जिस कोटिकी अबाध्यता है, उस कोटिकी प्रत्यक्षादि प्रमाणकी अबाध्यता है। अध्यारोपापोहार्थत्वेन अथवा अज्ञाननिवर्तक अखण्डाकार - वृत्तिजनकत्वेन वेदान्त-वाक्योंमें अत्यन्ताबाध्य ब्रह्मबोधकत्वरूप प्रामाण्य है ही। इसके अतिरिक्त वेदमतानुयायी प्रपञ्च - पारमार्थिकत्ववादियोंकी भी कमी नहीं है।

हेगेल और मार्क्सका जो अन्तर पुस्तकमें दिखाया गया है, उस पर कुछ लिखनेका साहस न कर राहुलजीने वचनमात्रसे मार्क्सको हेगेलका अनुगामी कहनेका प्रयत्न किया है। अन्तमें उन्होंने ही मार्क्सके शब्दोंमें कह दिया है कि 'हेगेल सिरके बल खड़े थे। मार्क्सने उसे पाँवोंके बल खड़ा कर दिया।' क्या यह कथन मार्क्सको हेगेलका अनुगामी होना सिद्ध करता है?

'ब्रह्म विश्वका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह कूटस्थ, नित्यबोधरूप है' राहुलजीका यह कथन भी निस्सार है। क्योंकि यदि ब्रह्म कारण नहीं है, तो अन्य कोई वस्तु विश्वका कारण हो ही नहीं सकती। ब्रह्म सत्तास्फूर्ति एवं आनन्दस्वरूप है। सम्पूर्ण पदार्थोंका सत्त्व, स्फूर्ति तथा प्रेमास्पदता ब्रह्मपर ही निर्भर है। प्रकृति, परमाणु, क्षणिक विज्ञान या भूत सब उसीकी सत्तासे सत्तावान्, उसीकी स्फूर्तिसे स्फूर्तिमान् होते हैं।

सत्तारूप ब्रह्ममें सब हजम हो जाते हैं, परन्तु उसका अन्तर्भाव कहीं नहीं हो सकता। अविवेक एवं मोहकी यह पराकाष्ठा है कि राहुलजी अब भी, जब कि दूसरे बौद्ध भी नित्य, कूटस्थ ब्रह्मको ही परम तत्त्व मानने लगे हैं, कूटस्थ सच्चिदानन्द ब्रह्मको छोड़कर क्षणिक विज्ञानका सहारा पकड़ना चाहते हैं। संसारके बुद्धिमान् सत्यं शिवं सुन्दरम् तत्त्वकी तलाशकर अमृतत्व चाहते हैं। किन्तु राहुलजी उसे छोड़कर क्षणभङ्गुर ज्ञान या क्षणिक जड़ भूतका सहारा पकड़कर अमृतत्वके बदले दीपक बुझ जाने जैसा निर्वाण या विनाशको ही परम ध्येय मानते हैं।

यह पीछे कहा जा चुका है कि प्रपंचोत्पादिनी शक्तिसहित ब्रह्म विश्वका कारण है। शक्तिनिपेक्ष ब्रह्म कूटस्थ निष्क्रिय है। कूटस्थ चेतन अङ्गीकार करना ही राहुलजीको सांख्यमतमें दूषण भासित होता है। वैदिक सर्वथा मृत्योर्मा अमृतं गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय की प्रार्थना करते हैं। लगभग सभी दार्शनिक अमृतत्व एवं प्रकाशको महत्त्व देते हैं। मृत्यु एवं जड़ताको महत्त्व देना राहुलजी जैसे कुछ विवेकशून्य व्यक्तियोंका ही मत हो सकता है।

राहुलजीको राईभर वटबीजमें महान् वटवृक्षका अस्तित्व असम्भव प्रतीत होता है। किंतु राईसे भी तुच्छ क्षणभंगुर ज्ञानमें पर्वत, समुद्रादिकी उत्पत्तिकी कल्पना असम्भव नहीं जान पड़ती। वस्तुतः उनका विज्ञान भौतिक मन या चित्तका ही एक विकार है। राईसे भी अतितुच्छ त्र्यणुकका षष्ठांश परमाणु होता है। उसका पञ्चमांश स्पर्शतन्मात्रा है। उसका अंश वायु एवं वायुके एकदेशमें प्राण तथा प्राणके एकदेशमें मन होता है। उसका विकार क्षणिक विज्ञान है। उससे पृथिवी, पर्वत, समुद्रादि कैसे बन सकते हैं, यह तो राहुलजी ही कह सकते हैं।

व्यावहारिक प्रमाण, प्रमेयादि-व्यवहारके सम्बन्धमें राहुलजी कहते हैं कि 'यह वैसा ही है, जैसा कोई व्यभिचारिणी स्त्री व्यभिचारके समय पकड़ी जानेपर कहने लगे कि 'देखो, यह मेरा पति मुझ साध्वीके वचनपर विश्वास नहीं करता। उसकी जगह अपनी आँखके बुलबुलोंको मानता है।' राहुलजी और धर्मकीर्ति यदि वेदान्तकी व्यावहारिक सत्ताका अभिप्राय समझ लेते, तो व्यभिचारिणी स्त्रीका गन्दा दृष्टान्त उपस्थापितकर अपनी बुद्धि एवं मस्तिष्कको गन्दा नहीं करते।

संसारमें कभी न मिटनेवाली अत्यन्ताबाध्य ब्रह्मसे भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं हैं। व्यवहारमें न मिटनेवाली व्यावहारिक वस्तुएँ ही व्यवहारमें आती हैं। उन्हींमें प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदिकी प्रवृत्ति होती है। प्रत्यक्षादि भी व्यावहारिक ही हैं। भेद यह अवश्य है कि बौद्धमतमें वे सब असत् हैं। किंतु वेदान्तमतमें व्यावहारिक सत् है। बौद्धमतमें वे क्षणभंगुर हैं, तो वेदान्तमतमें स्थायी। राहुलजीका उक्त दृष्टान्त प्रत्यक्षकी अपेक्षा वचन-प्रमाणकी दुर्बलता दिखानेके लिए है। किंतु परीक्षित प्रत्यक्ष अपरीक्षित वचनकी अपेक्षा दुर्बल होता है, इसी अंशमें उक्त दृष्टांत लागू होता है। सूर्यका प्रादेशिकत्व प्रत्यक्षप्रमाणसिद्ध होनेपर भी आगम या अनुमानबोधित परिमाणसे बाधित होता है। अर्थात् चक्षुसे सूर्य वितस्तिपरिमाण-परिमित (बित्ताभर) होनेपर भी आगम या अनुमानबोधित परिमाणसे बाधित होता है। आन्तर-बाह्य, आत्मा-अनात्मा आदि अनेक पदार्थोंकी प्रत्यक्षादिसे स्थिरता ही प्रतीत होती है। किंतु बौद्ध लोग अनुमान एवं बुद्धवचनानुसार उनका क्षणिकत्व अङ्गीकार करते ही हैं। यह बात पीछे कही जा चुकी है कि अनुमान एवं वचन

प्रामाण्यके अङ्गीकारके बिना अन्यनिष्ठ अज्ञान, संशय, विपर्ययादिका ज्ञान नहीं हो सकता। उसके बिना 'प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमानादि नहीं', प्रत्यक्षवादीका यह व्यवहार भी उन्मत्त-व्यवहार ही समझा जायगा।

राहुलजी चित्तकी एकाग्रतारूप योग एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा तथा अपौरुषेय आगमका उपहास करते हुए कहते हैं कि 'इसके द्वारा आत्म-परमात्मनिर्णयका प्रयत्न वैसा ही है, जैसे अँधेरेमें काली बिल्ली पकड़नेका प्रयत्न। विज्ञान इन सब बातोंको माननेके लिए तैयार नहीं। वेद पौरुषेय हैं। ईसा-पूर्व ११ वीं, १२ वीं शताब्दीके इतिहास, भूगोल जाननेके साधन हैं।'[१] किंतु उनका यह कहना उनके बौद्ध-धर्मसे भी विपरीत ही है। क्योंकि बुद्ध एवं उनके अनुयायी भी चित्तकी एकाग्रता और समाधि आदिका महत्त्व मानते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने कथन-में किसी प्रमाणका उल्लेख नहीं किया। वेदकी पौरुषेयताके सम्बन्धमें यत्किञ्चित् तर्कोंके उत्थापनमें भी वे समर्थ नहीं हुए। प्रतिज्ञामात्रसे वस्तुसिद्धि नहीं होती। पौरुषेयत्ववादी नैयायिकोंने भी वेदको ईश्वर-निर्मित माना है। पाँच हजार वर्ष पहलेसे व्यास वेदोंका गुणगान कर रहे हैं। लाखों वर्ष पुराने वाल्मीकि वेदोंका गुणगान कर रहे हैं। ये महर्षि वेदकी चतुर्विध पुरुषार्थका कारण कहते हैं। फिर ईसासे १२ सौ वर्ष पूर्व वेदोंकी उत्पत्ति बतलाना अनभिज्ञता ही है।

ईश्वरवाद

आगे राहुलजी कहते हैं कि 'धर्ममें ईश्वरका रहना अनिवार्य नहीं है। सबसे बड़ा धर्म बौद्ध ईश्वर नहीं मानता।'[२] किन्तु राहुलजीकी दृष्टिमें बौद्ध-धर्मसे बड़ा 'मार्क्सवाद' धर्मको भी नहीं मानता। फिर वे

बौद्ध-धर्मकी पूँछ क्यों पकड़ते हैं ? आखिर वे धर्म भी तो नहीं मानते, फिर बौद्ध-धर्मकी ही हिमायत क्यों ? ब्रह्मवाद राहुलजीकी जड़वादी बुद्धि में नहीं आ सकता। उसमें हाथ डालना ही उनकी अनधिकार चेष्टा है। निष्क्रिय ब्रह्म जगत्कारण नहीं बनता, यह न नयी शङ्का है और न इसका नया समाधान ही ढूंढ़ना है। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट उत्तर है कि ब्रह्ममें मायारहित ब्रह्मकी दृष्टिसे निष्क्रियता है और मायासम्बन्धसे प्रपञ्च-कारणता भी :

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान्विभो वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात्।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुद्ध्यते त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः॥

राहुलजी वेदान्त समझते ही नहीं, इसीलिए वे कहते हैं कि 'वेदान्त-में ईश्वर खपुष्पवत् हैं। जिस दृष्टिसे वे हैं, उनका प्रपञ्च है, खाना-पीना है, उस दृष्टिसे वेदान्तमें कर्म, कर्मफल और कर्मफलदाता ईश्वर एवं शास्त्र-सब परम सत्य ही हैं। आपकी दृष्टि ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या पर ही गयी, क्योंकि वह आपके नास्तिकवादके कुछ अनुकूल है। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, जन्माद्यस्य यतः, प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानु-परोधात् इत्यादि श्रुति-सूत्रोंकी ओरसे आपकी आँखें बन्द हैं। राहुलजी अटकल-पच्चू तर्क भिड़ाते हैं। कहते हैं कि 'यदि माया रहेगी, तो ब्रह्मकी एकता न रहेगी।' परन्तु क्या अग्निमें दाहिका शक्ति रहनेसे उसका एकता नष्ट हो जाती है ? जैसे वह्नि-शक्ति वह्निसे विलक्षण होता है, वैसे ही सत्-शक्ति सत्से विलक्षण होती है। यही उसकी अविवेचनीयता है। इससे ब्रह्मकी अद्वितीयता बाधित नहीं होती। जैसे बौद्धमतमें विज्ञानकी अस-

दर्थावभासनक्षमता विज्ञानसे पृथक् न होनेपर भी उसमें कार्यक्षमता है, वैसे ही इधर समझिये।

'अन्तिम मूलका मूल नहीं होता' इस युक्तिसङ्गत तथा सर्वसम्मत सिद्धान्तपर राहुलजी जैसे महापण्डिताभास ही कुछ अनर्गल प्रलाप कर सकते हैं। अन्यथा किसी मतमें भी उसका कारण क्या, आदि प्रश्न होते जायँगे, तो किसीके अन्तमें कोई भी स्वतःसिद्ध पदार्थ ही न माना जायगा। शून्यवादी शून्यको अकार्य एवं अकारण मानते हैं। अनेक बौद्ध मोक्षको वैसा ही मानते हैं। आधुनिक बौद्ध विज्ञानको भी अकार्य-कारण और कूटस्थ मानने लगे हैं। राहुलजी पहले उनसे तय करलें, फिर वेदान्तके नित्यसिद्ध ब्रह्मपर विचार करें।

राहुलजीका शाखा-चङ्क्रमण न्याय देखते ही बनता है। वे कहते हैं कि 'ईश्वर यदि दुःखमय जगत्का कर्ता है, तो इससे ईश्वर अन्यायी ही सिद्ध होगा। यदि ईश्वरको जरा भी दया होती, तो वह लाखों प्राणियोंके दुःख दूर कर देता।' किन्तु जब उनके सामने वैषम्यनैर्घृण्य इति चेन्न, सापेक्षत्वात्—यह बादरायण-सूत्र समाधान करता है कि ईश्वर प्राणियोंके कर्मानुसार ही विषम जगत्का निर्माण करता है; गोसाईंजी भी कहते हैं :

> कर्मप्रधान विश्व रचि राखा।
> जो जस करे सो तस फल चाखा॥

तब वे कौषीतकी-उपनिषद्के एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्योऽधो निनीषते यह वचन उद्धृत करके कहते हैं कि 'बादरायण-सूत्र तुच्छ है।'

वस्तुतः ईश्वर उसीसे असाधु कर्म कराता है, जिसे निकृष्ट लोकोंमें ले जाना चाहता है। क्या श्रुतिके सामने बुद्ध तथा मार्क्सकी उक्तियाँ तुच्छ नहीं हैं? यदि वे श्रुति मान लेते, तो उनको इतना मिथ्याप्रलाप क्यों करना पड़ता? फिर तो बादरायणके अनुसार श्रुतियोंका समन्वय यही समझना चाहिए था। श्रुतियाँ ही कहती हैं : यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।' प्राणी जैसा संकल्प करता है, वैसा ही कर्म करता है और वैसा ही फल प्राप्त करता है। आपका बौद्धधर्म भी तो कर्मानुसार ही फल-व्यवस्था मानता है। भेद इतना ही है कि बुद्ध कर्मोंसे ही फल मानते हैं, ईश्वर नहीं मानते। किन्तु श्रुतिके सामने बुद्धका कथन तुच्छातितुच्छ ही है। श्रुतिके अनुसार कर्मफलदाता ईश्वर ही है। श्रुतियोंका तो समन्वय ही है। प्राक्तन कर्मानुसार ही प्राणीसे ईश्वर कर्म कराता है। तदनुसार ही फल देता है। यही गीताके,

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

का भी अभिप्राय है। श्रुति, सूत्र तथा गीताकी एकवाक्यता ही सर्वास्तिकसम्मत है। फिर भी,

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

इत्यादिके अनुसार पुरुषार्थका भी स्थान रहता ही है। अतः ईश्वर-वादमें कोई भी असंगति नहीं रह जाती। उल्टे अनीश्वरवादमें ही अनेक प्रकारकी असङ्गतियाँ उपस्थित होती हैं, जिनका वर्णन पुस्तकमें 'मार्क्स और ईश्वर' शीर्षकसे किया गया है।

राहुलजी कहते हैं कि 'ईश्वरको माननेवाले धर्म और ईश्वरके नाम-पर हजारों वर्षोंसे खूनकी नदियाँ बहा रहे हैं। यदि ईश्वर होता, तो लाखों निरीह पुरुषोंका निर्मम वध रोकनेके लिए जरूर आ जाता। न्याय-वेदान्त जरूर ईश्वर मानते हैं, परन्तु कपिलके सांख्यको ईश्वरवादी नहीं कहा जा सकता।' यहाँ भी राहुलजीका वही असम्बद्धालाप देखनेको मिलता है। पहले वे कह आये हैं कि वेदान्तमें ईश्वर खपुष्पायित है। किन्तु यहाँ वेदान्तको भी ईश्वरवादियोंमें मान लिया। श्रीमद्भागवतके ईश्वरवादी, ईश्वरावतारभूत कपिलकी बात उन्हें मालूम नहीं है। अन्यथा वे कापिल सांख्यको निरीश्वरवादी कभी न कहते। बौद्ध लोग बुद्धको भी सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ तथा परम कारुणिक मानते हैं। कहा जाता है कि अहिंसा ही उनका परम व्रत था। इसीलिए उन्होंने वैदिक यज्ञोंकी भी निन्दा की। किंतु बौद्धधर्मके अनुयायी आज सर्वप्रकारके प्राणियोंका मांस भक्षण करते हैं। कुत्तेका मांस चीनियोंको बहुत ही प्रिय है। कहा जाता है कि किसी भी प्राणीका मांस उनके लिए अभक्ष्य नहीं है। वस्तुतः बुद्ध होते, तो अपने इन अनुयायियोंको ऐसे महाघृणित पापोंसे रोकनेके लिए अवश्य आ जाते। ईश्वरका निर्मम वध रोकने न आना तो उसी तरह संगत है, जैसे कि कोई भी सरकार या शासक प्रत्येक व्यक्तिके पीछे हिंसा या पाप रोकनेके लिए भटकता नहीं फिरता। किंतु उसके संविधान होते हैं और उन्हें कार्यान्वित करनेवाले अधिकारी होते हैं। उसीके अनुसार यथायोग्य यथासमय दुष्टोंका निग्रह और शिष्टोंपर अनुग्रह होता रहता है। ईश्वरके नामपर खूनकी नदियाँ बहानेवालोंका ईश्वरवाद वैसा ही दम्भपूर्ण है, जैसा कि राहुलजीका बौद्धधर्मानुयायी होना। वास्तविक ईश्वर मानने-

वाला किसी भी प्राणीका अपमान ईश्वरका ही अपमान समझता है। फलतः खूनकी नदियाँ बहानेका श्रेय अनीश्वरवादियोंको ही अधिक है, ईश्वरवादियोंको नहीं।

राहुलजीने उदयनाचार्यकी 'कुसुमाञ्जलि' के खण्डनकी चर्चा की है। यह वैसी ही बात है, जैसे मच्छरके द्वारा सिंहका शिकार करना। उनके उक्त खण्डनाभासका निराकरण हमने अलग लेखमें किया है, जिसे बौद्ध-धर्मके सम्बन्धमें प्रकाशित होनेवाली पुस्तकमें वे पढ़ सकते हैं। राहुलजी पहले 'कुसुमाञ्जलि' पढ़ें, उसके खण्डनकी बात फिर सोचें। आप पृथ्वी तथा सारे आकाशीय पिण्डको वेग तथा आकर्षणसे धारित मानते हैं और उसके सामने ऋषियोंके सिद्धांतको 'मानवताके लिए बच्चोंका युग' कहते हैं। किन्तु इन विचारोंको देखकर मालूम पड़ता है कि वे विज्ञान-का क-ख भी ठीकसे नहीं जानते। प्रस्तुत पुस्तकमें ही दिखाया गया है कि बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंने राहुलजीके तथाकथित सिद्धान्तको ही बच्चोंकी बात बतायी है। आप आधुनिक विज्ञानकी कितनी भी प्रशंसा करें और उसके बलपर सर्वज्ञताका अभिमान करें। किंतु विज्ञानमें अब भी अनेक विकल्प हैं ही। अब तो केन्द्राकर्षणकाल और दिक्सम्बन्धी विचारतक बदल गये। गणित तथा पदार्थ-विज्ञानमें बहुत-से सिद्धांत ऐसे हैं, जो परस्पर विरोधी हैं। उदाहरणार्थ, पहले युक्लिडके स्वतःसिद्ध नियम अनिवार्य विचारतत्त्व माने जाते थे। किंतु सालिवानके अनुसार अब वह पुरानी वस्तु हो गयी। उनका कहना है कि आजसे सौ वर्ष पूर्व लोवा-शेफ्स्की नामक रूसी और वोलियाई नामक हंगेरियनने यह जान लिया था कि युक्लिडका रेखागणित अविवेच्य आवश्यकताका स्थान नहीं ले सकता।

दो हजार वर्षतक युक्लिडके सिद्धांतोंने निर्विरोध राज्य किया। सभी वैज्ञानिक उन्हें जितना मनुष्योंके लिए, उतना ही देवताओं या ईश्वरके लिए आवश्यक मानते थे। उस समय लोवाशेफ्सी तथा बोलियाईको लोग विक्षिप्त कहते थे। महान् विद्वान् गांस तकको, जो स्वयं इसे समझ चुका था, अपना आविष्कार प्रकाशित करनेका साहस न हो सका। किंतु अन्तमें लोवाशेफ्सी आदिकी बात मान्य हुई।

जिस आइजक न्यूटनका केन्द्रीय आकर्षण-सिद्धान्त आज भी श्रद्धासे पढ़ाया जाता है, उसीके सम्बन्धमें सालिवानका कहना है कि 'न्यूटनका यह आविष्कार और इसकी पुष्टि मानुषी बुद्धिकी चरम कृति समझी जाती थी, तो भी आज हम केन्द्रीय आकर्षणकी व्याख्या भिन्न परिभाषा द्वारा करते हैं। इस विषयपर हमारा सम्पूर्ण दृष्टिकोण न्यूटनके दृष्टिकोणसे मूलतः ही भिन्न है। न्यूटनका सिद्धान्त लागू करनेपर कई अंशोंमें वह अवास्तविक और अशुद्ध ठहरता है।' आज वह प्रणाली जड़ और शाखासहित उखाड़ फेंकी गयी, जिसकी नींवपर यह सिद्धान्त खड़ा किया गया है। अभी थोड़े ही दिन पहले डाक्टर लोकी बात इङ्गलैण्डकी विज्ञान-परिषद्में दुहरायी गयी कि आधुनिक विज्ञानकी सबसे बड़ी खोज यह है कि हम लोग कुछ भी नहीं जानते। फिर विज्ञानके बलपर मार्क्स, एंजिल्स तथा उनके पिछलग्गू राहुलजी आदिका यह दावा कि हम सब कुछ जान सकते हैं, निरा दम्भ ही है। इस सम्बन्धमें 'मार्क्सवाद और रामराज्य', पृ१६ से पृ२१ तक पढ़िये।

विकाशवादियों और मार्क्सवादियोंके अनुसार आत्मा भौतिक परमाणुओंसे ही बनता है। अतः वह परिवर्तनशील है। बौद्धोंके अनुसार

भी विज्ञान आत्मा क्षणिक ही है। हक्सलेके मतानुसार अचेतन, पदार्थहीन ज्योति अथवा पानीके भँवरके तुल्य नित्य प्रतीत होनेपर भी प्रतिक्षण बदलनेवाली व्यक्तियाँ ही हैं। नये-नये परमाणु मिलते जाते हैं और पुराने पृथक् होते रहते हैं। यह धारा निरन्तर बहती रहती है। इसीलिए ज्ञान एवं चैतन्यका सिलसिला नहीं टूटता। वैज्ञानिकोंके अनुसार परमाणुओंकी गति प्रतिसेकेण्ड एक लाख मील है। यहाँ यह विचारणीय है कि अलग-अलग रहकर इतने वेगसे चलनेवाले परमाणु किस प्रकार अपना ज्ञान दूसरे परमाणुमें डालते हैं या ज्ञान किस प्रकार एक परमाणुसे उड़कर दूसरे परमाणुमें जाता है? बौद्धोंके क्षणिक विज्ञानात्माओंमें भी यही आपत्ति उठ सकती है। बीसों वर्ष पढ़कर भी एक छात्र गुरुका सम्पूर्ण ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकता। चाहते हुए भी गुरु अपना संपूर्ण ज्ञान छात्रोंमें शीघ्रतासे संक्रान्त नहीं कर पाता। फिर बिना किसी साधनके दूर-दूर स्थित परमाणु इतने वेगसे दौड़ते हुए अपना ज्ञान दूसरेमें फेंककर चले जाते हैं और दूसरे उस ज्ञानको ले लेते हैं, यह कितनी असङ्गत बात है? अतः विकासवादियोंके परिवर्तन-शील भौतिक आत्मा और बौद्धोंसे क्षणभंगुर विज्ञानात्मासे भिन्न अभौतिक कूटस्थ नित्य आत्माका मानना अनिवार्य है।

पृष्ठ ७० पर राहुलजीका कहना है कि 'बौद्ध और मार्क्सवादी आत्मा स्वीकार नहीं करते। शरीरसे भिन्न आत्माका अस्तित्व प्रयोगसे सिद्ध नहीं है। बिजली लगनेसे मनुष्यके हृदयकी गति बन्द हो जाती है। किंतु हृदयकी गतिको फिरसे चालित कर दिया जाय, तो आदमीमें जीवन सञ्चार हो जाता है। वस्तुतः मरे हुए आदमीको निर्भ्रान्त ऋषियोंके

कथनानुसार यमराजके सामने उपस्थित होना चाहिए। पर बिगड़ी हुई घड़ीके पुर्जेको ठीक कर देनेकी तरह वह अपनी जीवनयात्रा फिर शुरू कर देते हैं। वस्तुतः मनसे परे किसी आत्माकी सिद्धि नहीं होती।' पुनर्जन्म भी राहुलजीकी दृष्टिमें अमान्य है।

यहाँ उन्होंने बौद्ध एवं मार्क्सीय विचारोंका साङ्कर्य करनेका प्रयत्न किया है। किन्तु यह सब बौद्ध-सिद्धान्तसे विरुद्ध है। बौद्ध विज्ञानरूप आत्माको आन्तर एवं भौतिक जगत्को बाह्य तथा आत्मामें कल्पित मानते हैं। वे पुनर्जन्म, परलोक, कर्म, कर्मफल एवं बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था मानते हैं। यह बात उनके सूत्रों तथा अनेक जातक-ग्रन्थोंसे स्पष्ट है। किंतु मार्क्सवादियोंका इन बातोंसे कोई संबंध नहीं। राहुलजीका यत् सत् तत्क्षणिकम् (जो सत् है, वह क्षणिक है) आदि कथन भी 'सोऽहम्' (मैं वही हूं) इस अबाधित प्रत्यभिज्ञासे बाधित है। सर्वथा मरे आदमीकी हृदयगतिका पुनः संचालन और जीवन-सञ्चार अप्रामाणिक है। मुग्धावस्था या अर्धसम्पत्ति-दशामें ही उपचार आदिसे हृदयका पुनः गतिशील होना सम्भव है। उसी दशामें मरणका भ्रम होता है। जहां कहीं प्रामाणिक रूपसे मृत व्यक्तिके पुनर्जीवनकी बात निश्चित हो, वहाँ उसके कर्म शेष मानने चाहिए। उसीमें उपचार आदि निमित्त होते हैं। अजामिल आदि कई व्यक्तियोंको मरणके अनन्तर परलोककी बातोंका ज्ञान हुआ ही। विष्णुदूत या यमदूतोंका अनुभव उन्हें हुआ ही। फिर अस्थिर क्षणिक आत्मामें स्मरण भी नहीं हो सकता। भिन्नकालिक अनुभविता और स्मर्ताकी एकताके बिना वह असम्भव है।

देवदत्तसे अनुभूतका स्मर्ता देवदत्त ही होता है, यज्ञदत्त नहीं। कर्म-वैचित्र्यके बिना शरीरादिका वैचित्र्य भी उपपन्न नहीं हो सकता।

यहाँ राहुलजी स्पष्ट हो गये कि वे आत्मातक स्वीकार नहीं करते। पुनर्जन्म एवं कर्मफलमें उनका विश्वास नहीं है। यदि वे और उनके साथी कम्युनिस्ट अपने स्पष्ट नास्तिक स्वरूपको जनताके सामने रख दें, तो भारतीय ही क्या, संसारके भोले-भाले मजदूर भी उनके चंगुलमें नहीं फँसेंगे। किन्तु वे विश्वनाथजीपर जल चढ़ानेका भी ढोंग रचते हैं, वह सब उनका जनताको धोखेमें डालनेका ही प्रयत्न है। वस्तुतः जो अन्यके विषयमें सन्दिहान होते हुए भी स्वयं असन्दिग्ध है, अन्यमें भ्रांत होते हुए भी स्वयं अभ्रांत है, अन्यका अनुमान करता हुआ भी स्वयं अपरोक्ष है, वही आत्मा है। 'मैं हूं, या नहीं हूं' यह संशय या 'मैं नहीं हूँ' यह भ्रम या प्रमाद किसीको नहीं होता। अतः 'अहं' या 'मैं' या प्रमातारूप आत्मा साक्षात् अपरोक्ष माना जाता है। जो सबका ज्ञाता है, उसे जाननेके लिए अन्य क्या अपेक्षित हो सकता है? प्रमाता स्व-भिन्न प्रमेयकी प्रमितिके लिए ही प्रमाण ढूँढ़ता है, अपनी प्रमितिके लिए नहीं। यदि वह स्वयं प्रमेय होगा, तो एक ही में कर्म-कर्तृभावानुपपत्तिके कारण उसे प्रमाताकी अपेक्षा होगी। फिर उसके लिए अन्यकी अपेक्षा होगी। फलतः अनवस्था होगी, इसलिए प्रमाता स्वतःसिद्ध मान्य है।

भाव या अभाव किसी भी वस्तुकी सिद्धिमें प्रमाण अपेक्षित होता है। किंतु प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय सभीका जिस साक्षीसे प्रकाश होता है, वह स्वतःसिद्ध होता है। अनात्मवादी या शून्यवादी बौद्धका आत्माप-लाप या शून्य भी साक्षीनिरपेक्ष नहीं हो सकता। असाक्षिकयोर्भावा-

भावयारनुपपत्तेः—साक्षिरहित अभाव या भाव कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। सर्वनिराकर्ता या सर्वापलापी सबका अपलाप करनेपर भी अपना अपलाप कर ही नहीं सकता। यदि निराकर्ता नहीं होगा, तो निराकरण भी सिद्ध नहीं होगा। अतः जो जाग्रत्कालके प्रमाणादि तथा समाधिकालके प्रमाणादि के अभावका साक्षी है, वह नित्य-सिद्ध निराकर्ताका भी आत्मा ही है। इसीलिए यह सभी स्वीकार करते हैं कि 'मैं हूँ' 'मैं नहीं हूं' यह कोई भी स्वीकार नहीं करता। 'शून्य ही था या शून्य ही है' यह कहनेवाला भी शून्य-साक्षीरूपसे रहता ही है।

राहुलजी कहते हैं कि 'सांख्य, मीमांसक, वैशेषिक अनीश्वरवादी हैं। बौद्ध, जैन, चार्वाक अनीश्वरवादी हैं। इस तरह अधिकांश भारतीय दार्शनिक अनीश्वरवादी ही हैं।' इतना ही क्यों, यदि इस तरह आप अपना बहुमत बनाना चाहें, तो पशु-पक्षियोंको भी जोड़ लें। उनसे संख्या और भी बड़ी हो जायगी। इस तरह आहार, निद्रा, भय, मैथुनादिमें संलग्न प्राणी ही संसारमें बहुत हैं। मनुष्य तो बहुत कम हैं। उनमें भी धार्मिक मनुष्योंकी संख्या और भी बहुत कम होती है। धार्मिकोंमें भी तत्त्वनिष्ठोंकी संख्या तो बहुत ही कम है।

राहुलजीकी उक्त बातें भी अधूरी हैं। श्रीमद्भागवतादि पुराणों तथा गीतादिमें वर्णित सांख्य निरीश्वरवादी नहीं है। वैशेषिकोंकी भी अनीश्वरवादिता असिद्ध है। मीमांसकोंको भी वेदप्रमाणसिद्ध ईश्वर माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। वे तो ईश्वरके सम्बन्धमें अनुमानके स्वातन्त्र्यका ही खण्डन करते हैं। ये सभी बातें 'वेदका स्वरूप एवं प्रामाण्य' तथा 'वेद-प्रामाण्य-मीमांसा' पुस्तकमें स्पष्ट हैं।

राहुलजीने बिना समझे ही वेदान्तमें अनभिज्ञतापूर्ण तर्क उठाया है : 'माया यदि कोई वास्तविक तत्त्व होगा, तो अद्वैतवाद खतम हो जायगा। अनिर्वचनीय कहनेसे काम नहीं चलेगा। यह स्पष्ट बतलाना पड़ेगा कि मूलभूत माया वास्तविक है या रज्जु-सर्पके तुल्य भ्रम है।' इन्हीं सब कारणोंसे आप काश्मीर शैव-दर्शनके स्पन्दनशील अद्वैत विज्ञानको बुद्धिपूर्ण मानते हैं। लेकिन आपका यह सारा कथन आपके अज्ञानका ही परिचायक है। कहा जा चुका है कि बीजमें अङ्कुरोत्पादिनी शक्तिके तुल्य ब्रह्मनिष्ठ अनन्त प्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति ही माया है। वह उसी तरह सद्रूप ब्रह्मसे विलक्षण है, जैसे बीजकी शक्ति बीजसे विलक्षण होती है। सद्विलक्षणता ही अनिर्वचनीयता है। वही ब्रह्मभिन्न पदार्थोंका स्वभाव होता है। काश्मीर शैव-दर्शनका प्रकाश-तत्त्व स्पन्दनशील नहीं है। मायाके तुल्य विमर्श ही वहाँ स्पन्दनशील है। स्पन्दनशील बौद्धों जैसा प्रकाश माननेपर उसमें क्षणभङ्गुरता, अनित्यता आदि दोष अपरिहार्य ही हो जायँगे।

राहुलजी कहते हैं कि 'ऋषियोंमें कभी एकमत नहीं हुआ। प्रसिद्ध है : **वेदाः विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।** आदि।' यह भी बात राहुलजीकी बुद्धिके बाहरकी है। उनकी चञ्चल बुद्धि किसी भी विचारमें स्थित ही नहीं हो पाती। उनकी बुद्धि कभी सेठोंकी थैली और शाहोंके चिन्तनमें मग्न होती है, तो कभी स्त्रियोंके चिन्तनमें, कभी हरिजन-मन्दिर-प्रवेशमें और कभी गोमांस-भक्षणमें चली जाती है। वस्तुतः सारा श्लोक पढ़कर उसका भाव समझें, तो विदित होगा कि यहाँ समन्वय ही व्यक्त किया गया है। श्लोकका अग्रिम अंश यह है

'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।' पूर्वोत्तर-मीमांसाओं द्वारा परस्पर विरुद्ध भासित होनेवाले श्रुति-स्मृति-मुनिवचनोंका समन्वय किया जाता है। समान बलवाले परस्पर विरुद्ध वचनोंसे बोधित धर्मोंका विकल्प होता है। जैसे: उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति, समयाध्युषिते जुहोति। अर्थात् सूर्योदय होनेपर होम करें, सूर्योदयसे पहले होम करें, सूर्योदय होनेके समय होम करें—यहाँ तीनों ही पक्षोंका विधान है और तीनोंकी निन्दा भी है। निन्दाका तात्पर्य निन्द्यकी निन्दामें न होकर विधेयकी स्तुतिमें ही होता है। इस दृष्टिसे एक-एक पक्षकी निन्दा स्वपक्षमें निष्ठादार्ढ्यके लिए ही होती है। निष्कर्ष यह निकलता है कि अपने महाजनों अर्थात् श्रुति-स्मृति-मुनिवचनानुसारी स्वसम्प्रदायके पूर्वजों, गुरुजनोंके अनुसार एक पक्ष ग्रहणकर उसीमें दृढ़ निष्ठा रखनी चाहिए। इस तरह व्यवस्थित विकल्पमें ही अर्थवादसहित उक्त श्रुतियोंका तात्पर्य है। यही स्थिति श्रुति-स्मृति-मुनिवचनोंके सम्बन्धमें समझनी चाहिए।

भारतीय दर्शनोंका उद्देश्य दुःखनिवृत्ति एवं मृत्युविजय है तथा अवान्तर उद्देश्य धर्म, अर्थ और कामका अर्जन भी है। राहुलजीको मोहवश इस सिद्धान्तमें भी आपत्ति है। वे मोक्ष, परलोक आदि न माननेवाले मार्क्स एवं चार्वाकके दर्शनको ही महत्त्व देते हैं और दीपक बुझ जाने जैसे बौद्धोंके निर्वाणकी भी कुछ-कुछ प्रशंसा करते हैं। धर्मका नाम लेनेवाले कुछ कम्यूनिस्टों और औपनिषद ब्रह्मात्मक मोक्षको ही बुद्धका निर्वाण कहनेवाले कुछ बौद्धोंको राहुलजीके इस लेखसे शिक्षा लेनी चाहिए।

एकोऽहं बहु स्याम्' की व्याख्याके सम्बन्धमें राहुलजी फिर अनधिकार चेष्टा करते हुए कहते हैं कि 'उपनिषद् और सूत्र तो ब्रह्मको ही जगत् रूपमें परिणत मानते हैं।' वस्तुतः पुस्तकमें इन सब विषयोंपर पर्याप्त विचार किया गया है। किंतु ग्रन्थचुम्बक राहुलजीको कुछ समझमें ही नहीं आया। परिणाम विकार है, अतः परिणामीको विकारी, अनित्य तथा विनश्वर होना पड़ता है। किंतु ब्रह्म अनादि, अनन्त, अविनश्वर है। अतएव उपनिषद्को परिणामवाद स्वीकृत न होकर विवर्तवाद ही स्वीकृत है। अधिष्ठानविषमसत्ताक अन्यथाभावरूप विवर्त ही वेदान्तके परिणामका भी अर्थ है।

न कदाचिदनीदृशं जगत् का भी अभिप्राय आपने उल्टा ही समझा है। मीमांसकोंका तात्पर्य केवल यह है कि जगत् कभी भी अनीदृश नहीं था। अर्थात् सदा ईदृश ही था। जगत्में खण्डप्रलय ही होता है, महाप्रलय मीमांसकको मान्य नहीं है। वह जैसे आज वेदाध्ययनका अविच्छिन्न सम्प्रदाय-पारम्पर्य मानता है, वैसा ही सदा वेदोंके गुरुशिष्य-पारम्पर्यका अविच्छेद भी मानता है :

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाऽध्ययनं यथा॥

फिर भी राहुलजी बिना समझे ही पुस्तकके अक्षरोंमें अनुमानकी अप्रमाणता दिखानेका प्रयत्न करते हैं। किंतु वे सम्बद्ध पुस्तकके अन्य अपेक्षित अंशकी ओर जान-बूझकर दृष्टिक्षेप नहीं करना चाहते।

पुस्तकमें तर्कका अप्रतिष्ठितत्व तर्काप्रतिष्ठानात् आदि सूत्रांशानुसार

दिखाया गया है। परन्तु यह भी कहा गया है कि तर्कोंके अप्रतिष्ठित होनेका निर्णायक भी एक तर्क ही है। कतिपय तर्कोंका अप्रतिष्ठितत्व देखकर तर्कत्व-रूप हेतुसे तर्क-सामान्यमें अप्रतिष्ठितत्वकी कल्पना की जाती है। एवञ्च यदि सभी तर्क अप्रतिष्ठित ही हों, तब तो तर्कों के अप्रतिष्ठितत्वका व्यवस्थापक तर्क भी अप्रतिष्ठित ही होगा। फिर उस अप्रतिष्ठित तर्कसे किसी भी तर्कका अप्रतिष्ठितत्व कैसे सिद्ध होगा? यदि तर्कों के अप्रतिष्ठितत्वका व्यवस्थापक तर्क व्यवस्थित माना जाय, तो सभी तर्कों को अप्रतिष्ठित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह तर्क प्रतिष्ठित हो गया। वस्तुतः तर्कों के अप्रतिष्ठित होनेसे सावधानीके साथ निर्दोष तर्कके अन्वेषणका यत्न होता रहेगा। प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् (प्रमाण वह है, जो पदार्थों का अपलाप करनेवाला न हो)—धर्मकीर्तिका यह कथन कोई नवीन नहीं है। सभी प्रामाणिक अनधिगत, अबाधित अर्थबोधसाधक प्रमाणका ही प्रामाण्य मानते हैं। मार्क्सवादी प्रत्यक्षादि प्रमाणके अतिरिक्त 'प्रयोग' प्रमाणकी बात करते हैं। किंतु 'प्रयोग' नामक कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। प्रयोगशालाओंके यन्त्र आदि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके सहायकमात्र हैं, स्वतन्त्र प्रमाण नहीं। उनका साहाय्य भी एक सीमाके भीतर ही है। इसीलिए समझदार वैज्ञानिक उनके आधारपर अपनेको सर्वज्ञ कहनेका साहस नहीं करते।

वस्तुतः प्रत्यक्षसे अविज्ञात अर्थके ज्ञानमें ही अनुमानकी सार्थकता होती है। इसी तरह प्रत्यक्ष-अनुमानसे अविज्ञात अर्थके ज्ञानमें ही आगम-की सार्थकता होती है। ज्ञात-ज्ञापक प्रमाणका अप्रामाण्य ही मान्य होता है। राहुलजी कहते हैं कि 'वैज्ञानिकोंका सिद्धान्त तर्क या अनुमान-

के अधीन नहीं, बल्कि वस्तुके अधीन है। वस्तुएँ ही अन्तिम प्रमाण हैं : यदिदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम्। किंतु यदि उन्हें प्रमाणवृत्तान्तका लेश भी विज्ञात होता तो, वे इस प्रकारके असम्बद्ध कथनसे अवश्य ही हिचकते। भारतीय दर्शनका सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि कोई भी ज्ञान वस्तुतन्त्र ही हुआ करता है। वस्तुतन्त्रं भवेज्ज्ञानम्। दुर्गन्धादियुक्त किसी प्रमेय पदार्थका अन्यथाज्ञान प्रमाता-के चाहनेपर भी सम्भव नहीं होता। अन्यथाज्ञान, भावना, भ्रम आदि ही पुरुषतन्त्र या दोषादि अन्य साधनोंके अधीन होते हैं। हाँ, इसके विपरीत वस्तुका अपलाप तो धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध ही करते हैं। तभी तो उनमें कोई बाह्य अर्थको प्रत्यक्ष और कोई अनुमेय कहते हैं। धर्म-कीर्ति तो बाह्य पदार्थोंकी सत्ताका ही अपलाप करता है। शून्यवादी आन्तर-बाह्य सभी पदार्थोंका अपलाप करते हैं। राहुलजी अपने इन गुरुओंके ज्ञानोंको वस्तुतन्त्र कैसे कह सकते हैं? विज्ञानवादी बौद्ध बाह्यार्थनिपेक्ष ही विज्ञान-वैचित्र्यका भी समर्थन करता है। विज्ञान ही प्रमाण है। 'वस्तुतन्त्र ज्ञान होता है,' यह कहना सङ्गत हो सकता है। किंतु 'वस्तु ही अंतिम प्रमाण है' यह केवल राहुलजीकी बहक ही है। यदि वस्तुएँ ही प्रमाण हों, तब तो असंख्य प्रमाण ठहरेंगे और यह अप्रसिद्ध भी है।

राहुलजी ऋषियोंका मतभेद सामने रखते हैं, किन्तु बौद्धोंका मत-भेद भूल जाते हैं। बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, हीनयान, महायान, वज्रयान आदि भेदोंका समन्वय उनके लिए टेढ़ीखीर है। श्रुति-स्मृत्यादिके समन्वयार्थं पूर्वोत्तर-मीमांसा जैसे महान् ग्रन्थ ही

निश्चित हैं। अस्तु, ज्ञानोंके वस्तुतंत्र होनेपर भी, वस्तुओंका प्रकाश और उनके अस्तित्वकी सिद्धि प्रमाणोंपर ही निर्भर होती है। अतएव लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः (लक्षण और प्रमाणसे वस्तुकी सिद्धि होती है)—यह दार्शनिकोंका उद्घोष है। इसीलिए प्रत्येक विचारक प्रमेय, साधन, फलविचारके पहले प्रमाणका विचार करते हैं। अनुमान, आगमादि प्रमाण न माननेवाले प्रत्यक्षवादी हजारों यन्त्रों तथा प्रयोगोंसे आत्मा, धर्म, ब्रह्म आदिका ज्ञान उसी तरह नहीं प्राप्त कर सकते, जैसे कोई श्रोत्रसे गन्ध और घ्राणसे शब्दका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता।

वेद-प्रामाण्य

वेद-प्रामाण्यके सम्बन्धमें राहुलजी कहते हैं कि 'पुरोहित और आचार्य हमेशा अक्लके दुश्मन रहेंगे; क्योंकि उससे उनका काम नहीं चलेगा। इसीलिए वे आँख मूँदकर वेद, शास्त्र और पुराणोंका अनुसरण करनेके लिए कहते हैं।' किंतु वस्तुतः यह भी उनके अज्ञानका ही दोष है। अक्ल (बुद्धि) के दुश्मन ही अक्लको स्वतन्त्र मानते हैं। आस्तिक लोग बुद्धिके प्रमाण-पारतन्त्र्यको महत्त्वपूर्ण मानते हैं। स्पष्ट है कि बुद्धि भ्रमात्मिका और प्रमात्मिका दोनों ही तरहकी होती है। जो बुद्धि या अक्ल प्रमाणकी कसौटीपर खरी उतरती है, वही प्रमा कही जाती है। तद्भिन्न अप्रमा या भ्रम-संशयादिरूपा ही कही जाती है।

अतएव रूपबुद्धि नेत्रप्रमाण-परतन्त्र है, गन्ध-बुद्धि घ्राण-प्रमाण-परतन्त्र है। इन बुद्धियोंको अक्लके दुश्मन ही स्वतन्त्र कह सकते हैं। विवेकी लोग जैसे कन्याका स्वैरिणी होना दूषण और पति-परतन्त्र होना

भूषण मानते हैं, वैसे ही बुद्धिका प्रमाण-परतन्त्र होना भूषण और प्रमाण-निरपेक्ष होना दूषण मानते हैं। कोई भी अक्लका मित्र नेत्रादिके बिना रूपादिका निर्णय करनेकी बात नहीं कह सकता। चिकित्साशास्त्रके अध्ययनके बिना महाबुद्धिमान् भी किसी रोगीकी चिकित्सामें प्रवृत्त नहीं हो सकता। बुद्धिमान् बैरिस्टर भी शिल्पादि शास्त्रके अध्ययनके बिना यन्त्रादि-सुधारमें अपनी स्वतन्त्र या उच्छृङ्खल बुद्धिका प्रयोग नहीं कर सकता। ऐसी स्थितिमें आस्तिक विचारक धर्म-ब्रह्मबोधक वेदादि शास्त्रोंके बिना धर्म-ब्रह्म-निर्णय अनुचित समझें, यह ठीक ही है।

वेदार्थ यद्यपि सम्प्रदाय एवं सदाचारशून्य व्यक्तियोंके लिए दुरूह ही है, तथापि साधनसम्पन्न अधिकारी प्राणी मीमांसादि उपकरणोंके साथ आचार्य-परम्परासे उसे जान ही सकता है। राहुलजी कहते हैं कि 'वेदकी प्रमाणिकताका खण्डन बौद्धोंने इतनी अच्छी तरह किया है कि उसके लिए और अधिक प्रयासकी जरूरत ही नहीं है। धर्मकीर्तिने तो वेदप्रमाण्य माननेवाले लोगोंको अक्ल मारे हुएकी जड़ताके पाँच लक्षणोंमें शामिल कर किया है।' पृ० ७६ में '......वेदको अपौरुषेय कहकर जैमिनि कहते हैं कि वेदके कर्ताको कोई बतला नहीं सकता, अतः वेद पुरुषकृत नहीं हैं। धर्मकीर्तिने लिखा है कि देहातमें बहुतसे गिरे-पड़े कुएँ भी ऐसे मिलते हैं, जिनके निर्माण-कर्त्ताका पता नहीं, पर इससे उन्हें अपौरुषेय नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः भरद्वाज, वसिष्ठ आदि ही वेदके कर्ता हैं। वेदकी रचनाके पाँच-छ सौ वर्ष बादके पाली-सूत्रोंमें ऋषियोंको मन्त्रोंका कर्त्ता बतलाया गया है।'

मनुके नास्तिको वेदनिन्दकः के अनुसार वेदनिन्दकको नास्तिक कहा है। मनु-वचनकी अपेक्षा धर्मकीर्तिका कथन अतितुच्छ है। उनका प्राचीन भग्नकूपवाला दृष्टान्त भी अकिञ्चित्कर है। वस्तुतः सम्प्रदाया-विच्छेदे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्व ही अपौरुषेयत्वका हेतु माना जाता है। अर्थात् जिसकी सम्प्रदाय-परम्परा विच्छिन्न नहीं और अवश्य स्मर्तव्य होने पर भी जिसके कर्ताका स्मरण न हो, वही ग्रन्थ अपौरुषेय माना जाता है। भग्नकूपादिका कर्ता 'अवश्य स्मर्तव्य' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यवहारमें उसकी कुछ अपेक्षा नहीं होती। किन्तु जिसके व्यवहारमें कर्ताका स्मरण अत्यावश्यक है, वहाँ स्मरण न होनेसे व्यवहार ही नहीं हो सकता। जैसे आत्, ऐच् की वृद्धिसंज्ञाका व्यवहार 'वृद्धिरादैच्' सूत्रके रचयिता पाणिनिके स्मरणानुसार ही हो सकता है। जो पाणिनि एवं उनके व्याकरणको नहीं जानते, वे 'आत्, ऐच्' की वृद्धि-संज्ञा भी नहीं समझ सकते। इस तरह यद्यपि भग्न-कूपादि या घटादिका व्यवहार अपने लिए कर्तृस्मरणकी अपेक्षा नहीं रखता, तथापि वृद्धि-संज्ञादि-व्यवहार कर्तृ-स्मरणकी अपेक्षा रखता है। लोकमें वक्ता या कर्ताके आप्तत्वका निश्चय करके ही तद्ग्रन्थोक्त साधनोंके अनुष्ठानमें प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं।

बुद्धादिके आप्तत्वपर जिन्हें विश्वास नहीं है, वे बुद्धवाक्यानुसार साधनानुष्ठानमें प्रवृत्त नहीं होते। ऐसे ही यदि वेदका कोई कर्ता होता, तो उसका स्मरण और उसके आप्तत्वका स्मरण करके ही वेदार्थके अनुष्ठानमें जनताकी प्रवृत्ति होती। किंतु ऐसा नहीं है, अनादि कालसे शिष्टोंकी

वेदार्थानुष्ठानमें प्रवृत्ति है और वह कर्तृ स्मरण बिना ही। इसीलिए विदित होता है कि ईश्वर और आत्माके तुल्य वेद अनादि, अपौरुषेय हैं। अतएव कर्तृपुरुषाश्रित भ्रम-प्रमादादि दोष-शून्य होनेसे वेद परम प्रमाण है। जैसे नेत्रमें रूप-बोधकता स्वाभाविक है, वैसे ही शब्दमें स्वार्थावबोधकता भी स्वाभाविक ही है। जैसे सदोष नेत्रसे भ्रमादि भी हो सकता है, वैसे ही सदोष शब्दसे भी भ्रमादि हो सकते हैं। बुद्धादिवाक्य पौरुषेय होनेसे सदोष हो सकते हैं। वेदवाक्य अपौरुषेय होते हैं, अतः निर्दोष होनेसे उनका स्वाभाविक प्रामाण्य अनपोहित ही रहता है। सर्वशासक ईश्वर जैसे अनादि है, वैसे ही उसका शासन-विधानरूप वेद भी अनादि ही हैं। सभी ज्ञानोंमें शब्दानुवेध आवश्यक होता है। नित्य ईश्वरके नित्य ज्ञानमें अनुविद्ध शब्दराशि भी नित्य है, वही वेद हैं। इस तरह धर्मकीर्तिका कथन जगण्य सिद्ध हो जाता है।

शाबर-भाष्य, श्लोकवार्तिक, शाङ्कर-भाष्य आदि द्वारा बौद्धोंके दुस्तर्कोंका समूल उन्मूलन करके वेदकी अपौरुषेयता निर्बाध रूपसे सिद्ध की गयी है। इसी कारण वेदविरोधी बौद्ध-धर्म भारतवर्षसे सदाके लिए विदा होकर कहीं प्रत्यन्तोंमें सिसक रहा था। राहुलजीसे लोगोंका उसके पुनरुज्जीवनका स्वप्न देखना दिवास्वप्न ही है। अतएव आस्तिक लोग इस तरह अपौरुषेय वेदादि शास्त्रोंको छोड़कर नगण्य बौद्धग्रन्थोंके अनुसरणको ही मूर्खता और नास्तिकताका उक्त लक्षण मानते हैं। इस विषयका विस्तृत विवेचन 'वेदका स्वरूप और प्रामाण्य' ग्रन्थसे जाना जा सकता है।

ईश्वर, आत्मा, धर्म एवं शास्त्रोंके सम्बन्धमें महान् वैज्ञानिकोंका आनुकूल्य दिखाया जा चुका है। उपनिषदोंके सम्बन्धमें राहुलजीका यत्किञ्चित् प्रलाप शाखाचंक्रमण मात्र है। उनका यह कहना कि 'जो स्वतः गतिशील है, उसमें गति लानेके लिए किसीकी आवश्यकता ही नहीं। गतिहीन ब्रह्म या चेतनमें गति लानेकी शक्ति कहाँसे आयी ?' अज्ञान-विजृम्भित है। क्योंकि चेतनानधिष्ठित अचेतनकी स्वतः गति-शीलतामें उनके पास शपथके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं। चेतन अश्वादिसे अधिष्ठित रथादिकी गति चेतनपूर्वक है। वेदान्तीका यह दृष्टांत वादी-प्रतिवादी उभयसम्मत है। किन्तु अचेतन वायु या जलकी गति स्वतः होती है, यह नास्तिकका दृष्टान्त आस्तिकको मान्य न होनेसे उभयसम्मत नहीं। राहुलजीको यह मालूम होना चाहिए कि साध्यसम-पदार्थ दृष्टान्त-कोटिमें नहीं आ सकते। 'गतिहीन अयस्कान्त-मणि (चुम्बक) जैसे लौहका गतिदाता होता है, वैसे ही ब्रह्म भी अचेतनका गतिदाता होता है। उनके द्वारा उद्धृत अन्तर्यामी ब्राह्मणका अर्थ उपर्युक्त सिद्धान्तका ही पोषक है। शङ्कर या रामानुज आदि सभी आचार्योंका उक्त ब्राह्मणसम्बन्धी व्याख्यान राहुलजीके मन्तव्यको काटने-वाला ही है। मन-इन्द्रियोंसे अतीत ब्रह्म बहिर्मुख राहुलजी जैसे लोगोंको भले ही असंगत जँचे। किन्तु अन्तर्मुख धीर पुरुषकी दृष्टिसे सम्पूर्ण अचेतन प्रपंचका सत्त्व और स्फुरण ही उसके अधीन है : कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

राहुलजीने अविद्या और अज्ञानको अभावरूप समझनेकी भूलकर पुस्तकके अनेक अंशोंपर शङ्काके भूत खड़े कर लिये हैं। किन्तु वेदान्तमें

अविद्याको भावरूप माना जाता है। तभी वह आवरक हो सकती है, और तभी उसका नाश भी हो सकता है। अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्—अर्थात् ज्ञानस्वरूप ब्रह्म अज्ञानसे आवृत होता है। और ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः (महावाक्यजन्य वृत्तिरूप ज्ञानसे जिनका ब्रह्मात्मविषयक अज्ञान नष्ट हो गया है)। ज्ञाननिवर्तकत्वे सति अनादिभावरूपत्व ही अज्ञान या अविद्याका लक्षण है। अतएव उसे ब्रह्मकी शक्ति भी कहा जाता है। वह चित्स्वरूप ब्रह्मसे विलक्षण होनेके कारण अचित्, जड़ एवं अज्ञानादि शब्दोंसे व्यपदेश्य होती है। यदि राहुलजीने न समझनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा नहीं कर रखी है, तो पुस्तकके ठीक अध्ययनमें उनकी भ्रान्तियाँ दूर हो सकती हैं। राहुलजी स्वयं वेद, उपनिषद्, ब्रह्म एवं आत्मा आदि कुछ भी नहीं मानते। फिर वे 'ब्रह्म या आत्मा शक्तिसहित हो सकता है या नहीं, आत्मा स्मर्ता हो सकता है या नहीं' इस सम्बन्धमें क्या कह सकते हैं? आस्तिक लोग ब्रह्मको अनन्त ब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्तिसे सम्पन्न मानते हुए कूटस्थ, नित्य, सच्चिदानन्द मानते हैं। ब्रह्मका शक्तिविशिष्ट होना सुतरां प्रकाशका अन्धकारविशिष्ट होना जैसा नहीं है।

'जब सर्व जगत् है ही नहीं, तब चिदात्मा या ब्रह्मको सर्वगत नहीं माना जा सकता। अविद्या यदि भावरूप है, तो ब्रह्मके अतिरिक्त एक और तत्त्वको माननेपर अद्वैत-सिद्धान्त गलत हो जाता है' इत्यादि राहुलजीकी बातें बच्चों जैसी हैं। वे इस एक साधारण सिद्धान्तको भी नहीं जानते कि समानसत्ताकयोरेव भावाभावयोर्विरोधः, न तु विषमसत्ताकयोः—समान सत्तावाले भावाभावोंका ही विरोध होता है। जिस

कोटिका पारमार्थिक सत् ब्रह्म है, यदि उसी कोटिका भावरूप अज्ञान होता, तभी उसके द्वारा ब्रह्मकी अद्वितीयतामें बाधा पड़ सकती थी। किंतु यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जैसे वह्निकी शक्ति वह्निसे विलक्षण होती है, वैसे ही परमार्थ सत् ब्रह्मकी शक्ति परमार्थ सद्विलक्षण होनेसे अनिर्वच-नीय, अतएव व्यावहारिक सत्य होती है। सत्त्वभेदका अपलाप कमसे कम बौद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि उनके यहाँ भी वह अनिवार्य रूपसे मान्य है।

राहुलजी कहते हैं कि 'यदि ब्रह्म परिवर्तनशील या गतिशील होता, तो अद्वैततत्त्व सङ्गत हो सकता था।' किंतु यदि उनके समान सर्वनाश निर्वाण या मृत्युको ही परम पुरुषार्थ माना जाता, तभी ब्रह्मको गतिशील कहनेसे काम चल सकता था। वे माया और भ्रमका भेद भी नहीं समझ सके हैं। अनिर्वचनीयके सम्बन्धमें वे कहते हैं कि 'जिसके बारेमें कुछ कहा न जाय।' यहीं उनके वेदान्त-सिद्धान्त-ज्ञानका नमूना है। वेदान्तका साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि तत्त्वेन अन्यत्वेन वा निर्वक्तु-मनर्हत्वम् अनीर्वचनियत्वम् अर्थात् जिसका तत्त्वेन, अन्यत्वेन वा निर्व-चन न हो सके, वह वस्तु अनिर्वचनीय है।

बौद्धोंका क्षणिक विज्ञान एवं कुछ पाश्चात्योंका 'सर्वमनस' भौतिक चित्तकी अवस्था-विशेष ही है। वह स्वयं भी कार्य ही है। अतः उससे अतिरिक्त मूल कारण अपेक्षित होता ही है। कोई कार्य ही सर्वकारणों-का कारण नहीं हो सकता। उसीको मूल समझ बैठना बौद्धोंकी भ्रान्ति है।

राहुलजी कहते हैं कि 'गौडपाद विज्ञानकी गति या स्पन्दनको मानते हैं, परन्तु शङ्करने दूसरेके अपशकुनके लिए अपनी नाक ही

कटवा ली। अतएव विज्ञानवादका जो सबसे प्रौढ ग्रन्थ था, उसे खतमकर दिया।" किंतु यह कथन उनके अज्ञानका ही परिचायक है। गौडपाद और शङ्कराचार्य सभी विज्ञानको कूटस्थ, नित्य एवं अनन्त मानते हैं, उसीमें मायाशक्तिके योगसे कर्तृत्वरूप गतिकी भी उपपत्ति हो जाती है। उपनिषद्में भी सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म आदिके अनुसार उसे सत्य, अत्यन्ताबाध्य और अनन्त (सर्वविध परिच्छेदशून्य) कहकर उसे ही विश्वका कारण भी बतलाया है। माया-शक्ति द्वारा विश्वरूपसे जायमान होनेपर भी उसे स्वतः अजायमान ही कहा है : अजायमानो बहुधा विजायते.। राहुलजीके मान्य बुद्ध एवं बौद्धोंने तो अपनी नाक ही नहीं कटवायी, किन्तु क्षणभङ्गुर विज्ञानका विनाशरूप निर्वाण मानकर एवं सर्वशून्यताका सिद्धान्त स्वीकारकर आत्मनाश भी कर लिया। शङ्करने अनृत, मर्त्य अंशका अपनोदनकर अमृत, सत्य अंशको स्वीकार किया। किंतु बौद्धोंने अमृत, सत्य अंशका अपलापकर अनृत, मर्त्य क्षणभङ्गुरवादको स्वीकारकर आत्मनाश ही स्वीकार कर लिया।

'गीता, उपनिषद् आदि शङ्करके मतका समर्थन नहीं करते', राहुल-जीका यह कथन अनधिकार चेष्टा और मूर्खता है। अनिर्वचनीय माया-शक्ति या अचित् भावरूप अज्ञान न स्वाश्रित हो सकता है और न स्वकार्याश्रित ही हो सकता है। किंतु वह स्वतःसिद्ध स्वप्रकाशबोधस्वरूप ब्रह्मको ही विषयकर उसीमें स्थित होता है और उसीके साक्षा-त्कारसे निवृत्त भी होता है। वस्तुतः स्वानुचित देशकालावस्थायित्व ही नवर्त्यत्वका कारण भी होता है। तभी तो लाख प्रयत्न करनेपर भी

इङ्गाल (कोयला) के रहते उससे कालिमाकी निवृत्ति नहीं होती। किंतु स्वच्छ वस्त्रमें संलग्न कालिमा स्वल्प प्रयाससे ही निवृत्त हो जाती है। इसीलिए आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला के अनुसार आचार्योंने निर्विभाग, अनन्त चिद्रूप ब्रह्मको ही अविद्याका आश्रय और विषय कहा है। इस विषयपर पुस्तकमें पर्याप्त रूपसे प्रकाश डाला गया है। उसके अध्ययनसे ही आपकी भ्रान्ति दूर हो सकती है।

पृष्ठ ८८ पर राहुलजी कहते हैं कि 'प्रपंच अध्यस्त नहीं है, बल्कि वह वास्तविक है।' यह कथन बौद्ध-धर्मपर पूर्णरूपसे कुठाराघात है। इस सम्बन्धमें उनका अन्य कथन भी असम्बद्ध-प्रलाप ही है। यस्य यद्देशावच्छिन्न' यत्कालावच्छिन्न इत्यादि पुस्तकस्थ पङ्क्तियोंका उद्धरण भी 'अव्यापारेषु व्यापार' ही है। ...मार्क्सवादके दूषणमें दी गयी उक्त पङ्क्तका समाधान न कर सकनेके कारण ही राहुलजीका यह शाखा-चंक्रमण है।

राहुलजी कहते हैं कि 'बौद्ध-दर्शन मार्क्स-दर्शनको समझनेके लिए प्रथम सीढ़ी है। जैसे पश्चिममें उसके लिए हेगेल-दर्शन।' क्यों न हो, आप विकासवादी भी तो हैं। विकासवादके अनुसार ज्ञान, क्रिया, शक्तिका उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। फलतः उत्तरोत्तरके लोग विज्ञानवान् और उनकी अपेक्षा पूर्व-पूर्वके लोग अज्ञानी एवं मूर्ख सिद्ध होते हैं। इस दृष्टिसे बौद्ध-दर्शन मार्क्स-दर्शनकी प्रथम सीढ़ी हो, यह ठीक ही है। किंतु आपको यह भी मालूम होना चाहिए कि अब मार्क्स-दर्शन भी पुराना हो गया। आधुनिक राजनीतिज्ञोंकी दृष्टिसे वह सड़-गल ही चुका है। बौद्ध-दर्शन आत्मवादी है या अनात्मवादी, इस

निर्णयके सम्बन्धमें बौद्धोंमें भी मतभेद है। किंतु जन्मान्तरीय कर्म और उसका फल मार्क्सके विपरीत मानते हैं।

फलसम्बन्ध तथा परलोकके अस्तित्वका स्वीकार देहभिन्न आत्माको बिना माने सम्भव नहीं होता। अन्यथा बौद्धोंद्वारा चार्वाकके देहात्मवाद खण्डनका कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता। 'विज्ञानस्कन्ध इतर स्कन्धोंसे भिन्न है, वही आलयविज्ञान बौद्धोंका आत्मा है। राहुलजी स्वयं अनिश्चित होनेके कारण बौद्धवाद एवं चार्वाकप्राय मार्क्स-दर्शनकी खिचड़ी पकाना चाहते हैं। उन्होंने बौद्धोंके क्षणिकवादकी चर्चा की है। किंतु पुस्तकमें किये गये उसके खण्डनका कुछ समाधान नहीं किया। वस्तुओंकी एकता और स्थिरताकी प्रतीतिको वे सादृश्यमूलक भ्रांति कहते हैं।' परन्तु बाधके बिना किसी प्रत्ययको भ्रांति नहीं कहा जा सकता। सादृश्य-ग्रहणके लिए भी पूर्वापर क्षणवर्ती वस्तुद्वय एवं तत्सादृश्यका स्थायी ग्राहक होना आवश्यक है। धर्मकीर्तिके 'अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्' के अनुसार अर्थक्रियाकारित्व परमार्थ सत्का मूल है। परन्तु उत्पन्न होकर नष्ट होनेके अतिरिक्त जिसका कोई व्यापार सम्भव ही नहीं, उस क्षणिक वस्तुमें अर्थक्रियाकारिताकी सम्भावना ही कैसे सकती है?

राहुलजीने कहा है कि 'स्वप्नका लड्डू अर्थक्रिया भूखके निवारणमें समर्थ नहीं होता।' किंतु स्वप्नका मोदक स्वप्नकी भूखका निवारक तो होता ही है। यदि कहा जाय कि वह जाग्रत्कालकी भूखका निवर्तन नहीं कर सकता, तो यह भी कहा जा सकता है कि जाग्रत्कालके मोदकसे स्वप्नकी भी भूख

निवृत्त नहीं होती। वस्तुतः बौद्ध-सिद्धान्तके सम्बन्धमें आपके कथन भ्रम-पूर्ण हैं। विज्ञानवादी योगाचार तो स्वप्नादि दृष्टांतके अनुसार ही बाह्यार्थनिरपेक्ष प्रत्यय-वैचित्र्यसे ही सम्पूर्ण प्रमाण-प्रमेयादि व्यवहारोंका उपपादन करता है। सुतरां उसके यहाँ किसी बाह्यार्थ मोदकादिकी अर्थक्रिया-कारिता असंगत ही है। स्वाप्निक कामिन्यादिकी व्यावहारिक अर्थक्रिया-कारिताका समाधान भी राहुलजीको ढूँढ़ना चाहिए।

सत्कार्यवादके सम्बन्धमें राहुलजीका आक्षेप निःसार है। पुस्तकके ४६३ से ४७३ तक पृष्ठोंमें इसपर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उनका यह कहना कि 'बरगदके बीजमें विशालकाय वटवृक्षका अस्तित्व मानना वैसा ही है, जैसे तिनकेकी नोकपर अदृष्ट सैकड़ों हाथियोंका मानना।' परन्तु यह ठीक नहीं, कारण तिनकेसे कभी साक्षात् हाथियोंका प्रादुर्भाव नहीं होता। परन्तु वटबीजसे वटवृक्षका प्रादुर्भाव होता ही है। उसमें धरणी, जल, अनिल आदिकी सहकारिता अवश्य अपेक्षित रहती है। यों तो कारण और कार्यमें सौक्ष्म्य, स्थौल्यका भेद होता ही है। इन्द्र-नीलमणि, बर्फ, जल, बादल एवं सूर्यरश्मियोंमें रहनेवाले सूक्ष्म जलीयांशका महान् भेद दृष्टिगोचर होता है। तो भी सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे जैसे आतान-वितानात्मक तन्तुओंसे भिन्न पट नहीं ठहरता, वैसे ही कारणसे भिन्न होकर कार्यकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। फिर भी जैसे तन्तुमें अनुपलब्ध भी अङ्ग-प्रावरण, शीतापनयनादि-क्षमतारूप अनिर्वचनीय विशेषता पटमें उपलब्ध होती है, वैसे ही कार्यमें कारणकी अपेक्षा अनिर्वचनीय विलक्षणता उपलब्ध हो सकती है। 'बौद्ध अभावको कारण नहीं

मानते'—राहुलजीका यह कहना बौद्ध-सिद्धान्तसे विपरीत और उनके स्वकथनसे भी विपरीत है।

बुद्ध और मार्क्स

राहुलजीने अपनी ही पुस्तकमें लिखा है कि 'कारण विनष्ट होकर कार्य उत्पन्न करता है। कार्य कारणके सदृश होता है।' राहुलजीका यह कथन भी असङ्गत है, क्योंकि क्षणभङ्गवादमें सादृश्यग्रहण असम्भव है। 'बौद्धोंका ईश्वर 'सुगत' है, जैनोंका अर्हन् चार्वाकोंका ईश्वर राजा ही है' इत्यादि दार्शनिक वाक्योंका अभिप्राय न समझकर ही राहुलजीने 'बौद्ध लोग चार आर्यसत्य मानते हैं, उनका ईश्वर 'सुगत' और विश्व क्षणिक है, पुस्तकके इस अंशपर आक्षेप किया है।

इसी तरह बुद्ध और मार्क्सके मतोंकी खिचड़ी बनाना भी राहुलजीकी अवसरवादिता ही है। क्या पुनर्जन्म और परलोकवाद भी मार्क्सको मान्य था? क्षणभङ्ग-वादमें जब सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं (क्षणमें ही मर जानेवाली हैं), तो किसको दुःखसे बचना है? किसका दुःख दूर करना है? यह कहा जा चुका है कि 'यदि परिवर्तनमें किसी स्थायी रूपकी अनुवृत्ति मान्य है, तो सबकी क्षणिकता नहीं सिद्ध होगी।' यदि किसी स्थायी रूपकी अनुवृत्ति नहीं है, तो पूर्वापर क्षणवर्ती वस्तुओंमें कोई सम्बन्ध न होनेसे पूर्ण भिन्नता माननी पड़ेगी। ऐसी स्थितिमें यदि कोई दुःख-संयोग-वियोगका भागी ही नहीं, तो दुःखनिवृत्तिका क्षणभंगवादमें स्थान ही कहाँ? वस्तुतः मार्क्सका परिवर्तनवाद सांख्यों जैसा है, बौद्धों जैसा नहीं। मार्क्सका मत लोकदृष्टिसे आशापूर्ण कहा जा सकता है, किन्तु

बौद्धोंका नैराश्यपूर्ण। बौद्धोंका परम तात्पर्य 'निर्वाण' में तो मार्क्स-वादियोंका परम तात्पर्य 'निर्माण' में है।

योगाचारके विज्ञानवादकी कहानी भी राहुलजीकी स्वकपोल-कल्पित है। योगाचार बाह्यार्थको मानता ही नहीं। फिर वह विज्ञानको बाह्यार्थका कारण कैसे कहेगा? साथ ही वह विज्ञानको अद्वैत भी नहीं कह सकता। क्योंकि उसके मतमें प्रवृत्ति, विज्ञान एवं आलय - विज्ञान दोनोंका ही आनन्त्य है। गौडपादाचार्य एवं शङ्कराचार्यके सर्वोपप्लव-विवर्जित अखण्ड विज्ञानानन्द ब्रह्म और क्षणिक विज्ञानमें आकाश-पातालका अन्तर है।

'क्षणिक विज्ञानमें स्मृति और प्रत्यभिज्ञा नहीं बन सकती' इस प्रश्न-का उत्तर न देकर 'कूटस्थ नित्य आत्मामें संस्कार और स्मरण नहीं बन सकता' यह कहकर राहुलजी पिंड छुड़ा चाहते हैं। किन्तु वे यह नहीं जानते कि वेदान्ती केवल कूटस्थ आत्माको स्मर्ता नहीं मानते, किन्तु अन्तःकरणविशिष्ट या तदुपहित आत्मामें ही स्मरणादि मानते हैं। अन्तःकरण परिणामी होनेपर भी बौद्धके विज्ञानके समान क्षणिक नहीं है। अतः उसके द्वारा स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि उपपन्न हो सकते हैं।

राहुलजी कहते हैं कि 'ज्ञानसमुद्रका नाम आलय-विज्ञान है, वही सबका आलय है। विज्ञानकी तरङ्गों अर्थात् विज्ञानके कार्योंको बौद्ध प्रवृत्ति-विज्ञान कहते हैं।' वह 'आलय' के समान किसीका आधार नहीं बनता। साथ ही विज्ञानसे भिन्न वह अन्य किसी बाह्यार्थका कारण भी नहीं होता। वस्तुतः नील-पीतादि विषयवासनोपप्लुत ज्ञान प्रवृत्तिविज्ञान है

और 'अहम्-अहम्' इत्याकारक विषयोपप्लववर्जित विज्ञानधारा आत्म-विज्ञानधारा है। प्रवृत्तिविज्ञान कूटस्थ नित्य नहीं है, यह तो सही है। किंतु जब वह विषयानुभव-क्षणमें ही मरण या और उत्तर विज्ञानसे उसका कुछ सम्बन्ध नहीं, तब वह द्वितीय-तृतीय क्षणवर्ती संस्कारों और स्मरणका आधार कैसे बन सकता है?

वस्तुतः राहुलजीका विश्वास बौद्ध-दर्शनमें भी नहीं है और न तो उसका उन्हें पूर्ण अध्ययन ही है। इसीलिए उन्होंने अपनी किसी पुस्तकमें लिखा है कि कि 'बुद्ध भी राजाओं तथा अन्य पूँजीपतियोंके प्रभावसे प्रभावित होनेके कारण अपने सिद्धान्तोंको व्यावहारिक रूप न दे पाये थे।' जो बुद्ध जैसे महाविरक्तके सम्बन्धमें भी ऐसी धारणा रख सकता है, वह कैसा बौद्ध? आप जैसे वैरागी, संन्यासी और फिर बौद्ध बने, वैसे ही अब पक्के मार्क्सवादी बने। हो सकता है, आगे चलकर मार्क्सको भी कुछ भला-बुरा कहकर और कुछ बनें। जैसी दुर्गति मार्क्सने अपने गुरु हीगेल की की, वैसे ही आपने बुद्ध एवं बौद्ध-दर्शनकी की है। 'बौद्ध विज्ञानवाद भी हेगेलके विज्ञानवादकी तरह सिर नीचे और पैर ऊपर किये शीर्षासन कर रहा था। मार्क्सने जिस तरह हेगेलको इस सांसतसे मुक्त किया, उसी तरह बौद्ध विज्ञानवादका मुक्तिदाता भी वही है। मूलतत्त्व विज्ञान नहीं, किंतु भौतिक तत्त्व है। उसीसे वीची-तरङ्गकी तरह विज्ञानकी भी उत्पत्ति हुई और संसारकी हर एक वस्तुकी भी'—राहुलजीका उपर्युक्त ही उनके बौद्ध विज्ञानवादका अपर्षक सिद्ध करता है। इस कथनका स्पष्ट आशय है कि बौद्धवादकी अपेक्षा चार्वाकप्राय मार्क्सका ही मत ठीक है।

हेगेलके 'सर्वमनस' रूप विज्ञानको बौद्धोंके क्षणिकवादसे मिलाया भी नहीं जा सकता। नैयायिक भी आत्माके ज्ञानादि विशेषगुणोंको क्षणिक कहते हैं। परन्तु उनके क्षणिकका अर्थ है 'त्रिक्षणावस्थायित्व', अर्थात् उत्पत्तिक्षण, स्थितिक्षण, नाशक्षणमें रहनेवाला।

'हेगेल' का ज्ञान सविशेष रूपमें परिणामी होकर भी अन्वयी निर्विशेषरूप सेन्द्रिय ही है। राहुलजी लिखते हैं कि 'मार्क्स तर्कसे सत्यकी स्थापना नहीं मानता।' इसीसे मालूम पड़ता है कि आप मार्क्सवादसे भी अपरिचित हैं। यदि आप मार्क्सीय द्वन्द्ववादका अर्थ भी समझनेका प्रयत्न करते, तो ऐसा कहनेका साहस न करते। द्वन्द्ववाद (डाइलेक्टिस) ग्रीकभाषाका शब्द है। इसका अर्थ है, चर्चा या विवाद करना। इसी विवादस्वरूप द्वन्द्ववादके आधारपर प्राचीनकालमें कोई वक्ता विपक्षीके तर्ककी असङ्गति दिखलाकर उसका निराकरण करके सत्य सिद्धान्तका प्रतिपादन करता था। उस समयके दार्शनिकोंका ऐसा विचार था कि 'विचारोंमें परस्पर विरोध प्रदर्शनसे अथवा विरोधी मतोंके सङ्घर्षके स्पष्ट कर देनेसे सत्यकी प्रतिष्ठा होती है।' सत्य-सिद्धान्त प्रतिष्ठित करनेकी सर्वश्रेष्ठ प्रणाली ही द्वन्द्ववाद या 'डाइलेक्टिस' है। ... (जे० स्टालिन का द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद) इस विषयमें २२२ पृष्ठके 'मार्क्सीय द्वन्द्ववाद' प्रकरणमें पूर्ण विचार किया गया है।

राहुलजीको पुस्तकके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके विभागका भी परिज्ञान नहीं हुआ। इसीलिए वे कहीं पूर्वपक्षकी बातको ही सिद्धान्तरूपमें लिख गये। जैसे 'मार्क्स प्रयोग तथा अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञानको

ही वास्तवज्ञान मानता है।' परन्तु यह वाक्य पूर्वपक्षका अनुवाद है। उक्त वाक्य ४५६ पृष्ठका है। उसके आगे ही द्वन्द्वपर और विचार किया गया है। कहा गया है कि इसमें एक तर्ककी स्थापना की जाती है। फिर उसका खण्डन होता है, जिससे नये तर्ककी स्थापना होती है। इस प्रकार एक नीचे दर्जेके सत्यके ऊँचे दर्जेके सत्यपर पहुँचते हैं। वस्तुतः राहुलजीकी पुस्तकके समग्र प्रकरणका अध्ययन कर लेनेपर उनके विचारका छिछलापन स्वतः स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने जितना निरर्थक मिथ्या आक्षेप करनेमें और 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू' बननेमें परिश्रम किया है, उतना मार्क्सीय सिद्धान्त समझने और उसपर होनेवाली शङ्काओंके निराकरणमें नहीं किया। इसीलिए उनके निरर्थक अन्य अनर्गल प्रलापोंपर विचार करना हम उचित नहीं समझते।

'लङ्कावतार' सूत्रके प्रथम परिवर्तनकी इस कारिकामें :

'न ग्राहको न च ग्राह्यं न बद्ध्यो न च बन्धनम्।
मायामरीचिसदृशं स्वप्नाख्यं तिमिरं यथा॥

ग्राह्य-ग्राहकादि प्रपञ्चको माया-मृगतृष्णिका तथा स्वप्नवत् कहा गया है। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण लोकको खपुष्पतुल्य अत्यन्त असत् भी कहा है। फिर भी इसकी प्राप्तिमें प्रज्ञा एवं बुद्धकृपा आवश्यक है :

उत्पादभङ्गरहितो लोकः खपुष्पसन्निभः।
सदसन्नोपलब्धोऽयं प्रज्ञया कृपया च ते॥

वहाँ निर्वाण आदिका भी अपलाप किया गया है :

न निर्वासितनिर्वाणे न निर्वाणं त्वयि स्थितम्।
बुद्धिबोद्धव्यरहितं सदसत्पक्षवर्जितम्॥
मृगतृष्णा यथा ग्रीष्मे स्पन्दते चित्तमोहिनी।
मृगा गृह्णन्ति पानीयं वस्तु तस्य न विद्यते॥
एवं विज्ञानबीजोऽयं स्पन्दते दृष्टिगोचरम्।
बाला गृह्णन्ति जायन्त तिमिरं तैमिरा यथा।
ध्याता ध्यानञ्च ध्येयञ्च प्रहाणं सत्यदर्शनम्।
कल्पनामात्र सेवेदं यो बुद्धयति स बुद्धयति॥

यदि राहुलजीने कभी भी इन कारिकाओंको देखा होता, तो वे अद्वैतवादीके स्वप्नोपम प्रपञ्चपर आक्षेप नहीं कर सकते थे। क्योंकि बौद्धोंने तो जगत्को सर्वथा असत् ही कहा है। बौद्धोंके मतमें सब कुछ कल्पनामात्र ही है :

जलवृक्षछायासदृशाः स्कन्धविज्ञानपञ्चमाः।
माया स्वप्नोपमं दृश्यं विज्ञप्त्या न विकल्पयेत्॥
संस्कृतासंस्कृतं नास्ति अन्यत्र हि विकल्पनात्।
बाला गृह्णन्ति दिंमूढा वन्ध्या स्वप्ने सुतं यथा॥
वन्ध्यासुताकाशपुष्पं यदा पश्यति संस्कृतम्।
तदा ग्राह्यश्च ग्राह्यञ्च भ्रान्तिदृष्ट्वा निवर्तते॥

राहुलजी कहते हैं कि बौद्धोंका सिद्धान्त असत्कार्यवाद है। किंतु असत्कार्यवादी कारणसे कार्यको भिन्न मानते हैं। किंतु स्वयं बुद्धने कार्यको कारणसे अनन्य एवं अन्यसे भिन्न कहा है :

तद्यथा—महामते मृत्परमाणुभ्यो मृत्पिण्डो न चान्यो न चानन्यस्तथा सुवर्णं भूषणात्। यद्यन्यः स्यात्तैर्नारब्धः स्यात्। स चारब्धस्तैः। अथानन्यः स्यात् मृत्पिण्डपरमाण्वोः प्रतिभागो न स्यात्।

'उदधिस्तरङ्गभावेन नृत्यमानो विभाव्यते।
आलयस्य तथा वृत्तिः कस्माद् बुद्ध्या न गम्यते॥
बालानां बुद्धिवैकल्यादालयं ह्युदधिर्यथा।
तरङ्गवृत्तिसाधर्म्यं दृष्टान्तेनोपमीयते॥

जैसे समुद्र तरङ्गभावसे नृत्यमान होता हुआ भी बालकोंको भासित नहीं होता, वैसे ही आलयविज्ञान मन एवं प्रवृत्तिविज्ञान रूपसे भासित होता हुआ भी बालकोंको उपलब्ध नहीं होता।

सब कुछ असत् मानते हुए भी बन्धादि दुःखनिवृत्तिके लिए समाधि अभिषेक आदि बौद्धधर्ममें मान्य ही हैं:

अधिष्ठानं नरेन्द्राणां प्रणिधानैर्विशोधितम्।
अभिषेकसमाध्याद्याः प्रथमाद्दशमाय वै॥

(द्वि० ४६५) अर्थात् प्रारब्धकर्मक्लेशके निवारणार्थ श्रावकोंका ध्यान-भूमिकाविपतन न हो, तथागत भूमिकाको प्राप्त करनेके लिए प्राप्त धर्मकी अभिवृद्धिके लिए, अनुत्तरा सम्यक्सम्बोधित प्राप्तिके लिए प्रणिधानोंसे अधिष्ठान-विशोधन एवं अभिषेक, समाधि आदि किये जाते हैं।

न स्वभावो न विज्ञप्तिर्न वस्तु न च आलयः।
बालैर्विकल्पिता ह्येते शवभूतैः कुतार्किकैः॥

मिथ्याशब्दका प्रयोग बुद्धने अपह्नव या अपलाप अर्थमें ही किहै

केशोण्ड्रकं यथा मिथ्या गृह्यते तैमिरैर्जनैः।
तथा भावविकल्पोऽयं मिथ्या बालैर्विकल्प्यते ॥
अजले च जलग्राहो मृगतृष्णा यथा न मे।
दृश्यं तथादि बालानामार्याणां च विशेषतः ॥

जिसतरह तिमिर दोषवाले लोगोंको केशजाल प्रतीत होता है, बालकोंको जलशून्य मरुभूमिमें जल भासित होता है, उसी तरह तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें दृश्यन होते हुए भी अविवेकियोंको भासित होता है।

राहुलजी चार्वाकप्राय मार्क्सदर्शनका समर्थन करते हुए कहते हैं कि 'बौद्धोंने भी प्रत्यक्ष को ही मुख्य प्रमाण माना है, बौद्धोंने आत्मा नहीं माना है।' अन्तमें कहा है कि 'विज्ञानवादी बौद्धका विज्ञान वस्तुतः चैतन्य नहीं है, किंतु उसे भौतिक ही समझना चाहिए।' मार्क्सने जैसे हीगेल दर्शनको पांवके बल खड़ा करके सांसतसे मुक्त किया, वैसे ही बौद्ध विज्ञानवादको भी किंतु लङ्कावतारमें बुद्धने चार्वाक या लोकायतिकके वाग्जालसे बचनेके लिए बहुत जोर दिया है। उन्होंने कहा है कि लोकायतिक अपने विचित्र वाग्विन्याससे अनेकशास्त्र-विदग्धबुद्धि इन्द्रको जीत लिया था, अतः उससे दूर ही रहना चाहिए : अतएव तस्मात् कारणात् लोकायतिको परिवर्जयितव्यो दुःखजन्महेतुवाहकत्वान्न सेवितव्यो न भजितव्यो न पर्युपासितव्यः। शरीरबुद्धिविषयोपलब्धमात्रं हि महामते लोकायतिकैर्देश्यते विचित्रैः पदव्यञ्जनैः। अर्थात् लोकायतिकसे दूर रहना चाहिए, क्योंकि वह देहबुद्धिका ही उपदेश करता है।

इससे स्पष्ट है कि राहुलजी बौद्धधर्मके सम्बन्धमें सर्वथा अनभिज्ञ हैं। अपने लिए बुद्धने कहा है कि मैं लोकायत-मतका उपदेश नहीं

करत : नाहं लोकायतं देशयामि। इस तरह बुद्धने विस्तारसे लोकायतिक मतसे अपने मतमें भेद दिखलाया है।

प्रत्यात्मवेद्या शुद्धा च भूमिरेषा ममात्मिका।
माहेश्वरं परं स्थानमकनिष्ठो विराजते॥

बुद्धने अपने तत्त्वको प्रत्यात्मवेद्य शुद्धस्वरूपात्मक कहा है और उसे ही शुद्ध माहेश्वर अकनिष्ठ स्थान भी कहा है। यह भी कहा है कि चतुर्ध्यानसत्यविमोक्षकुशलानां योगिनां विमोक्षबुद्धिर्भवत्यप्रवृत्तेः अर्थात् चतुर्ध्यान सत्यविमोक्ष-कुशलोंको ही विमोक्षबुद्धि होती है। अहं या मैं रूपसे एक तत्त्व प्रत्यात्मवेद्य है, उसीको आस्तिक आत्मा कहते हैं। नैरात्म्यवादीका भी जो अन्तिम लक्ष्य है, उसी तत्त्वको आत्मा कहा जा सकता है।

बुद्ध दर्शन और राहुलजी

राहुलजी शास्त्रोंके विधि-निषेधोंको ढकोसला कहते हैं। किंतु बुद्ध लशुनादि-भक्षणका वर्जन आवश्यक मानते हैं : गृञ्जनं लशुनञ्चैव योगी नित्यं विवर्जयेत्। रौरवादि नरक भी बुद्धने माना है:

उभौ तौ पापकर्माणौ पच्येते रौरवादिषु।
ते यान्ति परमं घोरं नरकं पापकर्मिणः॥

राहुलजी मांसभक्षणके समर्थक हैं, किंतु बुद्ध उसका वर्जन करते हैं : मांसं न भक्षयेद्योगी। बुद्धने यह भी लिखा है कि मांसादि-भक्षण करनेवाले ही चाण्डालादि योनियोंमें पैदा होते हैं :

चाण्डालपुक्कसकुले डोम्बेषु च पुनः पुनः।
डाकिनीजातियोन्याश्च मांसादे जायते कुले॥

(८ वाँ परिवर्त)। अर्थात् मांस खानेवाला चाण्डाल, पुक्कस एवं डोम योनि में जन्म पाता है। यहाँ स्पष्ट ही चाण्डाल, पुक्कस, डोम्ब आदिको निकृष्टयोनि कहा है।

राहुलजी पहले बौद्ध-धर्मका सुधार करें, सनातन-धर्मसे इनका कुछ सम्बन्ध नहीं है। साथ ही जैसे पाप कर्मोंसे मार्जार आदि योनियाँ कही कहीं गयी हैं, वैसे ही चाण्डालादि योनियोंकी प्राप्ति भी कही गयी है:

राक्षसीमार्जारयोनौ च जायतेऽसौ नराधमः।

यदि आत्मा देहसे भिन्न है ही नहीं, तो कौन इन योनियोंमें जन्म लेगा यह भी विचारणीय है। इतना ही नहीं, मांसादि-वर्जन करनेवालों का ब्राह्मण योनि में जन्म भी कहा गया है:

ब्राह्मणेषु च जायेत अथवा योगिनां कुले।

इस तरह बुद्धके मतमें ब्राह्मणादि योनिप्राप्ति अच्छे कर्मोंका फल है और चाण्डालादि योनिप्राप्ति निकृष्ट कर्मोंका फल। बौद्ध प्रज्ञा एवं धन भी शुभकर्मोंका ही फल मानते हैं:

प्रज्ञावान् धनवांश्चैव मांसाद्यानां विवर्जनात्।

लङ्कावतार सूत्रके ६ वें परिवर्तमें पद्मे हिने चुचुले मुच्चे मुच्चे छिन्दे छिन्दे तुट्टे वुट्टे पट्टे कट्टे आदि मन्त्रोंका उल्लेख है। इनके ग्रहणसे देव, नाग, यक्ष, असुर, गरुड़, किन्नर, महोरग, गन्धर्व पिशाच, अपस्मार, राक्षस, डाकिनी, भूत, पूतना आदिका आवेश नहीं होता। इससे भी स्पष्ट है कि बुद्ध देवी-देवता, भूत-प्रेत, राक्षस तथा मंत्र-तंत्र सब कुछ मानते थे, जब कि राहुलजी इन बातों का मखौल उड़ाते हैं।

उपदेश संवृत्ति (माया) से ही हो सकता है :

संवृत्त्या देशयाम्येतान् परमार्थस्त्वनक्षरा।

अर्थात् मैं संवृत्तिसे ही उपदेश करता हूं। परमार्थतः अक्षरादि हैं ही नहीं। २२,९ सगाथक में कहा है :

मायास्वप्नोपमं लोकं दृष्ट्वा तत्त्वं समाश्रयेत्।
तत्त्वं हि लक्षणैर्मुक्तं युक्तिहेतुविवर्जितम्।
प्रत्यात्मवेद्यमार्याणां विहारं तु स्मरेत्सदा॥

अर्थात् बुद्धके अनुसार लक्षणोंसे रहित, हेतुयुक्तिशून्य प्रत्यात्मवेद्य ही तत्त्व है। बन्ध-मोक्षको बुद्धने मोहमूल ही माना है :

मोहात्तथैव बालानां बन्धमोक्षं प्रवर्तते।

आलयविज्ञानके सम्बन्धमें स्वयं बुद्धने कहा है :

यथा न भावो नाभावो गगनं कथ्यते मया।
आलयं हि तथा कार्यं भावाभावविवर्जितम्॥

योगाभ्याससे वस्तुस्थितिका ज्ञान होता है, यह भी बुद्धने कहा है :

निराभासस्थितो योगी महायानं न पश्यते।
अनाभोगगतिः शान्ता प्रणिधा नैर्विशोधिता॥
आलयं हि समाश्रित्य मनो वै संप्रवर्तते।
एतद्विभावयन् योगी चित्तमात्रज्ञतां लभेत्॥

'सर्वदर्शनसंग्रह' में आलय-विज्ञान, संवृत्ति-विज्ञानका भेद निम्नोक्त है :

तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम्।
तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिक मुल्लिखेत्॥

अहं-अहं यह विज्ञान आलय-विज्ञान है, नील - पीतादि विज्ञान प्रवृत्ति-विज्ञान है। बुद्ध एवं बौद्ध नैरात्म्यवादी हैं, फिर भी दूसरे दार्शनिकोंने तत्तद् बौद्धोंके मान्य अन्तिम तत्त्वको ही 'आत्म'शब्दसे व्यवहृत किया है। इसीलिए आलय-विज्ञान या शून्य ही बौद्धोंका आत्मा है, यह प्रवाद है।

निर्ममो निरहङ्कारो यश्च सोऽपि न विद्यते।
आत्मेत्यपि प्रज्ञपितमनात्मेत्यपि देशितम्।
बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्॥

जो निर्मम एवं निरहंकार होता है, वह भी कुछ नहीं है। इसीलिए बुद्धने आत्मा या अनात्मा किसी भी वस्तुको तत्त्व नहीं कहा है। इन वचनोंके आधारपर बुद्ध शून्यवादी हैं।

सर्वोपलम्भोपशमः प्रपञ्चोपशमः शिवः।
अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्।
निर्विकल्पसमानार्थमेतत तत्त्वस्य लक्षणम्॥

तत्र नास्मिन् परप्रत्ययोऽस्तीत्यपरप्रत्ययं परोपदेशागम्यं स्वयमेवाधिगन्तव्यम्।

जो परोपदेशसे अगम्य एवं स्वसंवेद्य है, वही अपर प्रत्यय है।

अनेकार्थमनानार्थमनुच्छेदमशाश्वतम्।
एतत्तल्लोकनाथानां बुद्धानां शासनामृतम्।

जिसमें सब उपलम्भों, ज्ञानोंका प्रशमन है, सभी प्रपञ्चका उपशम है, जो शिव या कल्याणरूप है, जो अवरप्रत्यय शान्त है; निर्विकल्प हैं, जो न एक है, न अनेक हैं, न उच्छेद्य है, न शाश्वत है, वही

बुद्धोंका तत्त्व-शासन है। इन वचनोंके आधारपर कुछ लोग कूटस्थ नित्य ब्रह्मको ही शून्य कहते हैं।

अत्र ब्रूमः शून्यतायां न त्वं वेत्सि प्रयोजनम्।
शून्यतां शून्यतार्थञ्च तत एव विहन्यसे॥

शून्यतासे डरनेवालोंके लिए शून्यताका उपयोग बताया गया है और कहा है कि उसके न समझनेसे ही अल्पज्ञोंको भय होता है

कर्मक्लेशक्षयान्मोक्षः कर्मक्लेशाविकल्पतः।
ते प्रपञ्चात् प्रपञ्चस्तु शून्यतायां निरुद्ध्यते॥

कर्मक्लेशोंके क्षयसे मोक्ष होता है और वे कर्मक्लेश विकल्पसे होते हैं। विकल्पका निरोध शून्यतामें ही होता है।

का शून्यता? अपरप्रत्ययशान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्।
निर्विकल्पसनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम्॥

शून्यता क्या है, इस प्रश्नका समाधान करते हुए कहा गया है कि जो शान्त, अपरप्रत्यय, परोपदेशागम्य स्वसंवेद्य एवं शान्त तथा प्रपञ्चोंसे अप्रपञ्चित है, निर्विकल्प एवं अनानार्थ है, वही तत्त्व है।

यः प्रतीत्य समुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।

आर्यसत्य-परीक्षा प्रतीत्य समुत्पाद भी शून्यता है। इस तरह कहीं सापेक्षता, कहीं निःसारता या निष्प्रपञ्चताके सम्बन्धमें शून्यताका प्रयोग हुआ है।

यः प्रत्ययः जायविसह्यजातो न तस्य उत्पादस्वभावतोऽस्ति।
यः प्रत्ययाधीन स शून्य उक्तो यः शून्यतां जानति सोऽप्रमत्तः॥

जो प्रत्ययों, विविध कारणोंसे उत्पन्न होता है, वह स्वतः अजात

ही है, उसका स्वाभाविक उत्पाद नहीं होता। अतः जो प्रत्ययाधीन है, वह शून्य ही है। उस शून्यताको जो मानता है, वही अप्रमत्त होता है।

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृत्तिसत्यं च सत्यञ्च परमार्थतः॥
स्कन्धात्मा लोक आख्यातः.........

दो प्रकारका सत्य लेकर ही बुद्धकी धर्मदेशना है: एक संवृत्ति-सत्य, दूसरा परमार्थ सत्य। परमार्थ सत्य शून्य है, लोकसंवृत्ति सत्य है।

व्यवहारमनाहृत्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥

व्यवहारके आश्रयणके बिना परमार्थका उपदेश नहीं हो सकता और परमार्थ बिना प्राप्त किये निर्वाण नहीं मिल सकता।

विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम्।
सर्पो यस्था दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता॥

शून्यताका सम्यक् ज्ञान ही कल्याणका मूल है। मन्दबुद्धि द्वारा अयथावत् समझनेसे शून्यता वैसे ही विनाशका कारण बनती है, जैसे दुर्गृहीत सर्प एवं दुष्प्रसाधित विद्या विनाशका कारण होती है।

न चाभावोऽपि निर्वाणं कुत एवास्य भावना।
भावाभावपरामर्शक्षयो निर्वाणमुच्यते॥

जो लोग कूटस्थ नित्य ब्रह्मरूप ही शून्य कहते हैं, उन्हें उपर्युक्त कारिकापर विचार करना चाहिए। इसमें स्पष्ट कहा गया है कि शून्य या निर्वाणमें जब किसी वस्तुरूपसे अभाव भी नहीं रह सकता, तो फिर भावरूपता तो उसमें हो ही कैसे सकती है?

भावस्य चेदप्रसिद्धिरभावो नैव सिद्ध्यति।
भावस्य ह्यन्यथाभावमभावं ब्रुवते जनाः॥

यदि भाव स्वतः असिद्ध है, तो अभाव भी भावसापेक्ष होनेसे वह भी स्वतः सिद्ध नहीं है, क्योंकि भावका विपरीतभाव ही अभाव है।

आकाशं शशशृङ्गञ्च वन्ध्यायाः पुत्र एव च।
भ्रमसंस्थाभिलप्यन्ते तथा भावेषु कल्पना॥

जैसे आकाश, शशशृङ्ग, वन्ध्यापुत्र-व्यवहार भ्रममूलक है, वैसे ही भावकल्पना भी भ्रम ही है।

अविनाशमनुत्पन्नं धर्मधातुसमं जगत्।
सप्तधातुञ्च देशेमि एषा लोकानुवर्तना॥

अविनाश एवं अनुत्पन्न धर्म धातुके समान ही सप्तधातुका उपदेश केवल लोकानुवर्तनमात्र है।

फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा।
मरीचिसदृशी प्रज्ञा संस्कारा कदलीनिभाः।
मायोपमं च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना॥

वस्तुतः फेनपिण्डके तुल्य रूपस्कन्ध है, जल बुद्बुदके-तुल्य वेदना-स्कन्ध भी निःसार ही है। मरुमरीचिकाके तुल्य प्रज्ञा है, कदली-स्तंभके तुल्य संस्कार हैं, विज्ञान भी मायाके तुल्य ही है।

अलातचक्रनिर्माणस्वप्नमायाम्बुचन्द्रकैः।
धूमकान्तः प्रतिश्रुत्का मरीच्यभ्रैः समो भवः॥

अलातचक्र, स्वप्नमाया, मृगमरीचिका, तथा जलचन्द्रकके समान ही संसार है।

राहुलजीने लिखा है कि शङ्कराचार्यने बुद्धको 'योगिनां चक्रवर्ती' कहा है। यद्यपि 'बृहत्स्तोत्ररत्नाकर' आदि में :

धराबद्धपद्मासनस्थाङ्घ्रियष्टिः नियम्यानिलं न्यस्तनासाग्रदृष्टिः।
य आस्ते कलौ योगिनां चक्रवर्ती सुबुद्ध प्रबुद्धोऽस्तु निश्चिन्तवर्ती ॥

मिलता है, तथापि यह स्तोत्र प्रामाणिक 'शाङ्कर-ग्रन्थावली' में नहीं मिलता। अतः जैसे न मंत्रं नो यन्त्रं आदि स्तोत्र आद्य-शङ्कराचार्यके न होकर किन्हीं पीठस्थ शङ्कराचार्यके ही हैं, वैसे ही उक्त दशावतारस्तोत्र भी आद्यशङ्कराचार्यका नहीं है। फिर, अन्य शङ्कराचार्यकी यह स्तुति भी अवतारभूत बुद्धके सम्बन्धमें है, गौतम बुद्धके सम्बन्धमें नहीं। 'लङ्कावतारसूत्र' के अनुसार गौतम बुद्धसे बहुत पहले बुद्धका जन्म हुआ था। आद्यशङ्कराचार्य भी पुराणोंका प्रामाण्य मानते हैं, अतः बुद्धावतारका आदर कर सकते हैं। किन्तु दार्शनिक बुद्धके सम्बन्धमें तो ब्रह्मसूत्रमें उन्होंने स्पष्ट कहा है :

अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादं यमितरेतरविरुद्ध-मुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजाः इति सर्वथा-ऽप्यनादरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैः।

अर्थात् बाह्यार्थविज्ञान एवं शून्य परस्पर विरुद्ध वादोंका उपदेशकर बुद्धने अपनी असंबद्धप्रलापिता ही व्यक्त की है अथवा प्रजाविद्वेष ही व्यक्त किया है। इससे वेद, धर्म, ब्राह्मणादिके सम्बन्धमें विरुद्धार्थकी प्रतिपत्ति होनेसे मोहित होकर प्रजा विनष्ट हो सकती है। सर्वथाऽपि श्रेयस्कामोंको बौद्धमत दूरसे त्याग देना चाहिए।

राहुलजी वेदान्तके मायावादपर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि 'यदि मायामय प्रपञ्च असत् है, तो उसमें प्रमाणादि व्यवहार कैसे हो सकता है?' किन्तु यदि वे बौद्धमत भी ठीक समझ लेते, तो ऐसा न कहते, क्योंकि :

संवृत्तिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं मतम् ।
बुद्धेरगोचरस्तत्त्वं बुद्धिः संवृत्तिरुच्यते ॥

(बोधिचर्यावतार ६ परिच्छेद)। यहाँ दो प्रकारका सत्य बताया गया है : एक संवृत्ति सत्य, दूसरा परमार्थ सत्य। बुद्धि संवृत्ति है, बुद्धिका अगोचर शून्य पारमार्थिक है। सम्पूर्ण व्यवहार संवृत्ति सत्य से ही बौद्ध-मतमें चलता है।

राहुलजी अनुमान या आगमसे प्रत्यक्षके बाधकी मखौल उड़ाते हैं। इसपर भी बौद्धोंका कहना है :

तत्र लोको द्विधा दृष्टो योगी प्राकृतकस्तथा।
तत्र प्राकृतको लोको योगिलोकेन बाध्यते।
बाध्यन्ते धीविशेषेण योगिनोऽप्युत्तरोत्तरैः ॥

अर्थात् बौद्धमतानुसार दो प्रकारके लोक देखे जाते हैं, एक योगी, दूसरा प्राकृत। उसमें प्राकृत लोक योगिलोकसे बाधित होता है। पदार्थोंकी क्षणिकता, शून्यता सामान्य लोकको प्रतीत नहीं होती, किंतु योगीको भासित होती है। योगियोंमें भी उत्तरोत्तर योगियोंसे पूर्व-पूर्व योगियोंका भी बाध होता है। अतएव शून्यवादी द्वारा विज्ञानवादीका भी बाध होता है।

राहुलजी योगकी भी हंसी उड़ाते हैं, किन्तु :

दृष्टान्तेनोभयेष्टेन कार्यार्थमविचारतः ।
लोकेन भावा दृश्यन्ते कल्प्यन्ते चाऽपि तत्त्वतः ।
न तु मायावदित्यत्र विवादो योगिलोकयोः ॥

इन कारिकाओंसे प्रतीत होता है कि बौद्ध ही मुख्य मायावादी है। वेदान्ती तो ब्रह्मवादी है। बौद्ध कहते हैं इन्द्रजाल आदिको लोक और योगी दोनों ही माया मानते हैं, अतः उभयसंमत दृष्टान्त-से संसार मायामय है, यह सिद्ध होता है। बौद्धोंके अनुसार प्रत्यक्ष रूपादि प्रामाणिक नहीं माना जाता। अतएव उनका कहना है :

प्रत्यक्षमपि रूपादि प्रसिद्ध्या न प्रमाणतः ।
अशुच्यादिषु शुच्यादिप्रसिद्धिरिव सा मृषा ॥

अर्थात् जिनका प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा होता है, वे भी प्रसिद्ध या रूढिके द्वारा प्रामाणिक हैं, प्रमाणके द्वारा नहीं। जैसे अशुचि, अनित्य आदिमें शुचि, नित्य आदिका भ्रम होता है, वैसे ही इसे भी समझना चाहिए।

लोकावतरणार्थं हि भावा नाथेन देशिताः ।
तत्त्वतः क्षणिकानेते संवृत्त्या चेद्विरुद्ध्यते ॥
न दोषो योगिसंवृत्त्या लोकात्ते तत्त्वदर्शिनः ।
अन्यथा लोकबाधा स्याद्, अशुचिस्त्रीनिरूपणे ॥

अर्थात् यदि जैसा दिखाई देता है, वैसा ही वस्तुतत्त्व हो, तो साधारण लोगोंमें और तत्त्ववादीमें भेद ही क्या हुआ? यदि बालक भी तत्त्वविद् हुए, तो फिर तत्त्वज्ञानका प्रयोजन भी क्या रहा?

इन्द्रियैरुपलब्धं यत् तत् तत्त्वेन भवेद्यदि।
जातास्तत्त्वविदो बालास्तत्त्वज्ञानेन किं तदा॥

फिर भी यदि स्वप्नवत् संसार मिथ्या है, तब पुनः स्कन्ध एवं उनके क्षणिकत्वादिका प्रतिपादन ही क्यों? इसका समाधान बौद्ध विद्वान् करते हैं कि प्राणियोंकी परमार्थशून्यतामें बुद्धि-प्रवेशके लिए ही स्कन्धादिका वर्णन है। अतएव क्षणिकत्व भी तात्त्विक नहीं। यदि कहा जाय कि संवृत्तिसे क्षणिकत्व है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि संवृत्तिसे क्षणिकके विपरीत नित्य ही पदार्थ भासित होते हैं। किंतु जो साधारण लोगोंसे अधिक ज्ञानी होते हैं, उन योगी लोगोंकी संवृत्तिसे ही पदार्थोंके क्षणिकत्वकी प्रतीति होती है। योगी स्त्रीको अशुचि कहते हैं, परन्तु यह भी लोकविरुद्ध है। यहाँ राहुलजीके बौद्धोंने ही स्त्रीको अपवित्र कहा है; परन्तु राहुलजी कहते हैं रामराज्यमें स्त्रीको नीच माना जाता है—यद्यपि रामराज्यमें तो माताको पितासे हजारगुना अधिक आदर दिया गया है:

सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते।

बौद्धोंके अनुसार:

यदा न भ्रान्तिरप्यस्ति माया केनोपलभ्यते।
यदा मायैव ते नास्ति तदा किमुपलभ्यते॥

अर्थात् जब भ्रांति भी नहीं है, तो माया भी किसके द्वारा उपलब्ध हो सकती है? जब माया भी नहीं है तो और कौन-सी वस्तु उपलब्ध हो सकती है? फिर भी शून्यवादमें बुद्धपूजा होती है, उससे साधकको लाभ भी होता है—इसमें आगमप्रमाण मुख्य माना गया है:

आगमाच्च फलं तत्र संवृत्त्या तत्त्वतोऽपि वा।
सत्यबुद्धे कृता पूजा सफलेति कथं यथा॥

बोधिचर्यावतार में भी आगम-प्रामाण्यका वर्णन है।

नन्वसिद्धं महायानं कथं सिद्धस्त्वदागमः।

इत्यादिसे शंका-समाधानपूर्वक शून्यवादी भी आगम-प्रामाण्यका समर्थन करता है।

शून्यताकी प्राप्तिके लिए बौद्धोंमें समाधि आवश्यक बतायी गयी है:

विना शून्यतया चित्तं बद्धमुत्पद्यते पुनः।
यथासंज्ञिसमापत्तौ भावयेत्तेन शून्यताम्॥

सब कुछ शून्य है, तो बोधिसत्त्वकी करुणाका विषय क्या होगा, इस शंकाका समाधान करते हुए कहा गया है कि मोहोत्थ सत्वपर ही कृपा हो सकती है।

अथोत्पन्नमहं चित्तं नष्टेऽस्मिन् नास्त्यहं पुनः।
यथैव कदलीस्तंभो न कश्चिद् भागशः कृतः॥
तथाप्यहमसद्भूतो मृग्यमाणो विचारतः।
यदि सत्त्वो न विद्येत कस्योपरि कृपेति चेत्॥
कार्यार्थमभ्युपेतेन यो मोहेन प्रकल्पितः।
कार्यं कस्य न चेत् सत्त्वः सत्यमीहा तु मोहतः॥
दुःखव्युपशमार्थं तु कार्यमोहो न वार्यते।
दुःखहेतुरहङ्कारः आत्ममोहात्तु वर्धते॥
ततोऽपि न निवर्त्यश्चेद् वरं नैरात्म्यभावना।

अर्थात् अतीत, अनागत चित्त तो अविद्यमान ही होता है, विद्यमान चित्त भी क्षणके अनन्तर नष्ट ही होगा। अतः अहंका आलम्बनभूत

आत्मा कुछ भी नहीं है। जैसे कदलीस्तंभका विभाजन करनेपर कुछ भी तत्त्व अवशिष्ट नहीं रहता, वैसे ही विचार करनेपर अहं कुछ भी सिद्ध नहीं होता। कहा जा सकता है कि यदि सत्त्व कोई है ही नहीं, तो कृपा भी किसपर होगी? किन्तु कार्यार्थ स्वीकृत मोहके द्वारा कृपा संभव है ही। फिर भी कहा जाता है कि जब सत्त्व ही नहीं, तो कार्य भी किसका? किन्तु यह भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि दुःखप्रशमनके लिए कार्यमोह प्रत्यक्ष है, उसका वारण नहीं किया जा सकता। दुःखका हेतु अहंकार है और वह आत्ममोहसे बढ़ता है। नैरात्म्यभावनासे ही उसका निवर्तन होता है।

राहुलजी कहते हैं कि बुद्धधर्ममें भ्रान्ति, कल्पना या अध्यास नहीं मानना पड़ता। किन्तु 'लङ्कावतार' में सैकड़ों स्थलोंमें भ्रान्तिका वर्णन है :

कथं हि दृश्यते भ्रान्तिः कस्माद्भ्रान्तिः प्रवर्तते।
ध्यायिनां विषयः कोऽसौ कथं यानत्रयं भवेत्॥
अभिज्ञा लभते केन दर्शिताश्च समाधयः॥
माया स्वप्नोपमः केन कथं गन्धर्वसन्निभः।
मरीच्युदकचन्द्राभः केन लोको ब्रवीहि मे॥

बौद्धमत में ध्यानका भी महत्त्व वर्णित है :

ध्यानं यानालयप्राप्तिरचिन्त्यफलगोचरम्।

वहाँ योगीके लिये नियम भी कहे गये हैं :

गवैडकाश्च दासा वै तथा हयगजादयः।
तल्पविद्धं न स्वप्तव्यं भूमिं चापि न लेपयेत्॥

सौवर्णं राजतं पात्रं कांस्यं ताम्रं न कारयेत्।
कर्दमैः फलमन्त्रैश्च शुक्लान्योगी रजेत्सदा।
शिल्पविद्यां न शिक्षेत योगी योगपरायणः॥

वहाँ विस्तारसे योगीकी चर्या लिखी है, फिर भी राहुलजी योगकी मखौल उड़ाते हैं।

राहुलजीने बुद्धको पूंजीपतियोंसे प्रभावित बतलाया है। किंतु बुद्धने योगियोंको बतलाया है कि वे राजाओं एवं राजपुत्रोंको, मन्त्रियोंको या सेठोंको पिण्ड (भिक्षा) के लिए कभी उपदेश न करें :

राजानो राजपुत्राश्च अमात्या श्रेष्ठिनस्तथा।
पिण्डार्थे नोपदिश्येत योगी योगपरायणः॥
समाधिबलसंयुक्तमभिक्षैर्वशितैश्च वै।
न चिरात्तु भवेद्योगी............।

राहुलजी कहते हैं : बौद्धोंमें अध्यास आवश्यक नहीं है। किन्तु बौद्धोंमें अध्यारोप एवं अपवादके द्वारा तत्त्वज्ञान मान्य है :

अपवाद-समारोप-वर्जितं दर्शनं सदा।
समारोपापवादेन देशयिष्यन्ति मध्यमम्॥
योगानारभते चित्रां गत्वा शिवपदीं शुभाम्।
उदधेश्च तरङ्गाणां यथा नास्ति विशेषणम्।
विज्ञानानां तथा चित्ते परिणामो न लभ्यते॥

राहुलजीने असत्कार्यवादका समर्थन किया है, परन्तु बुद्धने असत्कार्य-वादको दुर्दृष्टि कहा है : असत्कार्यवाददुर्दृष्ट्या जनतां नाशयन्ति च। आगेकी पंक्तियोंसे आत्माकी चर्चा भी बौद्धधर्ममें मिलती है। इसी

लिए भले ही नैरात्म्यवादमें आत्मशब्दसे परहेज हो, फिर भी आलय-विज्ञान या शून्य तत्त्व उनके यहाँ मान्य है ही। उसे ही दूसरे दार्शनिक आत्मा कहते हैं। जैसे :

यथा हि गर्भो गर्भिण्या विद्यते न च दृश्यते।
आत्मा हि तद्वत्स्कन्धेषु अयुक्तिज्ञो न पश्यति॥
औषधिनां यथा सारमग्निं वा इन्धनैर्यथा।
न च पश्यन्त्ययुक्तिज्ञा तथा स्कन्धेषु पुद्‌गलम्।
अनित्यतां सर्वभावेषु शून्यतां च यथा बुधाः॥

जैसे गर्भिणीके भीतर गर्भ रहता हुआ भी दिखायी नहीं देता, वैसे ही स्कन्धोंमें छिपा आत्मा अयुक्तिज्ञको उपलब्ध नहीं होता। जैसे औषधियोंका सार एवं अग्नि भी पहले अव्यक्त ही रहती है, वैसे ही आत्मा भी अव्यक्त रहता है।

अनुत्पन्नमिदं सर्वं न च बालैर्विभाव्यते।
न च पश्यन्त्यविद्वांसो विद्वान् दृष्ट्वा विमुच्यते॥

बौद्ध लोग बुद्धको सर्वज्ञ मानते हैं। यथा :

व्यासः कणाद ऋषभः कपिलः शाक्यनायकः।
निर्वृत्ते मम पश्चात्तु भविष्यन्त्येवमादयः॥
मयि निर्वृत्ते वर्षशते व्यासो वै भारतस्तथा।
पाण्डवाः कौरवाः राम पश्चान्मौर्यो भविष्यति॥
मौर्या नन्दाश्च गुप्ताश्च ततो म्लेच्छा नराधमाः।
म्लेच्छान्ते शस्त्रसंक्षोभः शस्त्रान्ते च कलियुगः॥
चतुर्वर्णा नृपेन्द्राश्च ऋषयो धर्ममेव च।

वेदाश्च यज्ञं दानं च धर्मस्था वत्स्यते पुनः ॥
माता च मे वसुमतिः पिता विप्रः प्रजापतिः ।
कात्यायनसगोत्रोऽहं नाम्ना मे विरजो जिनः ॥
चम्पायांहं समुत्पन्नः पिताऽपि च पितामहः ।
सोमगुप्तेति नाम्नाऽसौ सोमवंशसमुद्भवः ॥
चीर्णव्रतः प्रव्रजितः सहस्रं देशितं नयम् ।
व्याकृत्य परिनिर्वास्येऽभिषिच्य च महामतिम् ॥

लङ्कावतार-सूत्रकी उपर्युक्त गाथाओंमें यह स्पष्ट हो जाता है कि लङ्कावतार-सूत्रके उपदेशक बुद्ध सिद्धार्थ गौतम बुद्धसे सर्वथा भिन्न हैं। उन्होंने यह स्वयं बतलाया है कि मेरे निर्वाणके बाद व्यास, कणाद, कपिल तथा शाक्यसिंह होंगे। मेरे सौ वर्ष बाद व्यास एवं कौरव-पाण्डव तथा भारत आदि होंगे। मौर्य्य नन्द गुप्तोंके अनन्तर म्लेच्छ होंगे। पश्चात् शस्त्रक्षोभ होंगे। उन्होंने यह भी कहा है कि फिर भी वर्णाश्रम धर्म, वेद तथा यज्ञादि प्रवृत्त होंगे।

अपना परिचय देते हुए उन्होंने अपनेको कात्यायनगोत्रोपन्न विप्र कहा है और चम्पामें अपना जन्म बतलाया है। चम्पानगरी वाल्मीकि-रामायणके अनुसार अंगदेश अर्थात् दक्षिणी विहारके कीकटदेश ही थी। श्रीमद्भागवतके अनुसार बुद्धका जन्म कीकटमें ही हुआ था :

बुद्धो नाम्नाऽजिनसुतः कीकटेषु भविष्यति ।
दो वनचर दो बारिचर, दोउ विप्र दोउ भूप ।
इन कहँ मस्तक जो नवे, सो न परे भवकूप ॥

यह दोहा रामानन्दीय वैष्णवोंमें प्रचलित है उसके अनुसार दश अवतारोंमें चारको 'विप्र' कहा गया है, वह वामन, परशुराम, बुद्ध और कल्किको लेकर ही संगत होता है। यद्यपि सनातनी आस्तिक जगत्के अनुसार तो व्यास ऋषि उन बुद्धके भी पहले ही हुए थे और सर्वज्ञ व्यासके द्वारा भविष्यद्वृत्तिसे भविष्यमें होनेवाले बुद्ध आदिके सिद्धान्तका खण्डन उपपन्न हो जाता है। फिर भी बौद्धोंके लिए तो लङ्कावतार-सूत्र परम प्रमाण है ही। उसके अनुसार भी बुद्ध व्याससे सौ वर्ष पहले हुए हैं। वे बुद्ध ब्राह्मण थे। व्यास, कणाद,कपिलके पश्चाद् शाक्यसिंह हुए, जो क्षत्रिय थे और गौतम बुद्ध नामसे प्रसिद्ध हुए। पुराणोंके अवतारभूत बुद्ध गौतम बुद्धसे भिन्न प्रतीत होते हैं। उन्हींके मतोंपर व्यास आदिकों ने समालोचनाएँ की हैं।

वेदापौरुषयत्व-विचार

वेदापौरुषेयत्वपर राहुलजीने आक्षेप किया है, किन्तु इसपर विशेष विचार 'वेदका स्वरूप और प्रामाण्य' पुस्तकमें किया गया है। यहाँ बौद्ध दर्शनसम्बन्धी विषयोंपर विचार करना ही आवश्यक है। इससे राहुलजीका बौद्ध-दर्शनसम्बन्धी ज्ञान भी स्पष्ट हो जायगा। फिर भी प्रसंगतः वेदापौरुषेयत्वपर भी कुछ लिखा जा रहा है। कहा जाता है कि : यत्किञ्चित्सुभाषितं तत्सर्वं बुद्धभाषितम् जो भी सुभाषित है, वह बुद्धवचन है।

यदर्थवद् धर्मपदोपबृहितं त्रिधातुसंक्लेशनिबर्हणं वचः।
भवेच्च यच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यथा॥

(बोधिचर्यावतार ४।२५) अर्थात् जो सार्थक, धर्मयुक्त त्रिधातु-संक्लेश-हीन एवं शान्तिदायक वचन है, वही सार्थक (अर्थवत्) है, तद्भिन्न अनर्थक है। वैदिक लोग भी सुभाषितका आदर करते ही हैं। फिर भी कहीं-कहीं विषसंपृक्त मधुरान्नके समान वेद-धर्म एवं ईश्वरादिसे विरुद्ध मधुरवाणी भी त्याज्य हो सकती है।

कहा जाता है कि त्रिपिटक (दीर्घनिकाय) में वेदोंका कर्ता ऋषियोंको बताया गया है। किंतु बुद्ध स्वयं वेदविरोधी थे, अतः वे वेदको पौरुषेय कह सकते थे। एतावता वैदिक ऋषियों द्वारा स्वीकृत वेदकी अपौरुषेयतापर कोई आँच नहीं आती।

कहा जाता है कि यास्कने भी साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः, तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः (अ० १ ख० २०) अर्थात् ऋषि वे थे, जिन्होंने धर्मका साक्षात्कार किया था। उन ऋषियोंने उपदेशद्वारा उन लोगोंको मन्त्र प्रदान किये, जिन्होंने धर्मका साक्षात्कार नहीं किया था। इसी कारण वे अवर (हीन) थे। उपदेशाय ग्लायन्तो अवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं वेदाङ्गानि च—अर्थात् उपदेशग्रहणमें असमर्थ अवर लोगोंने इस ग्रन्थ (निरुक्त) तथा वेद एवं वेदाङ्गोंका संग्रह किया, जिससे स्पष्ट ज्ञान हो सके। एतावता यह सिद्ध है, साक्षात्कृतधर्मा लोगोंने असाक्षात्कृतधर्मा लोगोंको मन्त्र प्रदान किया और असाक्षात्कृतधर्मा लोगोंने ही वेद एवं वेदाङ्गोंका निर्माण किया था। इस दृष्टिसे वेदकी पौरुषेयता ही सिद्ध होती है।' किंतु सब कथन निरुक्तका अर्थ न समझनेके कारण ही है।

दुर्गाचार्यने उक्त अंशकी व्याख्या करते हुए कहा है : ऋषन्त्य-मुष्मात् कर्मण एवमर्थवता मन्त्रेण संयुक्तादमुना प्रकारेणैवं-लक्षणः फलविपरिणामो भवतीत्यृषयः ऋषिदर्शनात् इति वक्ष्यति। तदेतत् कर्मणः साक्षात् विपरिणामदर्शनमौपचारिक्या वृत्त्योक्तम्, साक्षात्कृतधर्माण इति। न हि धर्मस्य दर्शनमस्ति, अत्यन्तापूर्वो हि धर्मः। अर्थात् इस प्रकारके अर्थवाले मन्त्रोंसे युक्त अमुक कर्मसे अमुक प्रकारसे फलविपरिणामका दर्शन करनेवाले ऋषि होते हैं। यद्यपि कर्म-के फलविपरिणामका साक्षात् दर्शन नहीं हो सकता, फिर भी औपचारिक वृत्तिसे ऐसा कहा गया है। धर्म अत्यन्त अपूर्व होता है, वह केवल वेदसे ही अवगत हो सकता है। ऋषिको तपस्याकी महिमासे उपदेश-निरपेक्ष वेदोंके द्वारा ही संशय-विपर्ययादिरहित कर्म एवं फलके स्वयं प्रकट कार्य-कारणभावका निश्चय होता है। वह निश्चय साक्षात्कारके समान भ्रमादिरहित होता है। इसीलिए औपचारिक वृत्तिसे उसे 'साक्षात्कार' कहा जाता है। उक्त वचनमें कहीं भी साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा मंत्रोंका निर्माण नहीं कहा है, किंतु नित्यसिद्ध मन्त्रोंका प्रदानमात्र कहा गया है।

निरुक्तकी अपेक्षा अतिप्राचीन ही नहीं, नित्यसिद्ध वेदमन्त्रमें तो स्पष्ट वचन है कि ब्रह्माके निर्माता ईश्वरने भी ब्रह्माका निर्माणकर उसे वेद प्रदान किया :

यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

यहाँ ब्रह्माका ही निर्माण कहा है, वेदोंका नहीं; उसका तो केवल प्रदान ही कहा गया है। इससे स्पष्टतया वेदोंकी अपौरुषेयता ही सिद्ध होती है।

सुतरां यास्कके वचनोंका अर्थ भी मूल वेदोंके अनुकूल ही होना उचित है।

दूसरे टीकाकारोंने भी इसी ढङ्गका अर्थ किया है। धर्मसाधन यागादिमात्र फल सुखादि धर्मपदसे गृहीत हैं। उन्हींका साक्षात्कार हो सकता है, अपूर्व धर्मका नहीं। अथवा धर्मशब्दसे वेदका ही ग्रहण है। ऋषियोंने नित्यसिद्ध वेदका साक्षात्कार किया ही है, इस सम्बन्धमें ब्राह्मणग्रन्थ भी प्रमाण है : तद्यदेनांस्तपस्यमानान् स्वयम्भुब्रह्माऽभ्यानर्षक ऋषयोऽभ्वन् तदृषीणामृषित्वम् अर्थात् तप करते हुए ऋषियोंको स्वयम्भु ब्रह्म (वेद) का दर्शन हुआ, यही ऋषियोंका ऋषित्व है।

'वेद-समाम्नाय' क्या है, इस सम्बन्धमें भी दुर्गाचार्य कहते हैं : कथं समाम्नासिषुरिति ? आह—शृणु, वेदं तावदेकं सन्तमतिमहत्त्वाद्दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः। तद्यथा—एकविंशतिधा बाह्वृच्यमेकशतमाध्वर्यवं सहस्रधा सामवेदं नवधाऽथर्वणम्। वेदाङ्गान्यपि, तद्यथा—व्याकरणमष्टधा निरुक्तं चतुर्दशधेत्येवमादि, एवं समाम्नासिषुर्भेदेन ग्रहणार्थः कथं नाम भिन्नान्येतानि शाखान्तराणि लघूनि गृह्णीयुरेते शक्तिहीना अल्पायुषो मनुष्या इत्येवमर्थं समाम्नासिषुः इससे स्पष्ट है कि वेदोंका निर्माण समाम्नात नहीं है, अपितु नित्यसिद्ध एक वेदका अधिकारियोंके शक्तिह्रासके कारण शाखाभेद करना ही समाम्नाय है। यहाँ कहीं भी मन्त्र या वेदोंके निर्माणका उल्लेख नहीं है। प्रदान तो पूर्वसिद्धका ही होता है।

वस्तुतः प्रथमोच्चारण ही निर्माण होता है। वेद अनादि हैं, अतः उनका प्रथमोच्चारण कभी भी नहीं हुआ है। अतएव वाचा-

विरूपनित्यया इस वेदवचनमें ही वेदवाणीको नित्य कहा गया है। इसी तरह पूर्वानुपूर्वी-निरपेक्षोच्चारण ही निर्माण कहा जाता है। वेदके सम्बन्धमें तो ईश्वर भी पूर्वकल्पकी आनुपूर्वीके अनुसार ही उत्तरकल्पकी आनुपूर्वीका उच्चारण करता है। अतः कोई भी वैदिक-स्थिति समझनेवाला व्यक्ति वेदको पौरुषेय नहीं कह सकता। वेदके पौरुषेयत्व होनेके जो-जो भी कारण हो सकते हैं, उन सबका विधिवत् निराकरण पूर्वोत्तर मीमांसकोंने कर रखा है। किसी वचनसे यह सिद्ध नहीं होता कि ऋषियों (यास्क आदि) ने मंत्रोंकी रचना की थी।

यह भी कहा जाता है कि 'जैमिनि और व्यासके पहले वेद पौरुषेय ही माने जाते थे, किन्तु जैमिनिने उस परम्पराको उलट दिया। उसी पूर्वपरंपराको उन्होंने पूर्वपक्षके रूपमें लिखा था : वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या। अर्थात् जैसे वाल्मीकीय रामायणमें वाल्मीकीय' का अर्थ है वाल्मीकि की बनायी हुई, वैसे ही काण्व, शौनकीय, कौथुमीय, काठक, तैत्तिरीय आदि शब्द, जो वैदिक-साहित्यके साथ जुड़े हैं, उनका स्पष्ट यही अर्थ है कि कण्व, शौनक, कौथुम, कठ, तित्तिरि आदिकोंकी कृति वेद हैं। परन्तु जैमिनिको यह मत पसन्द नहीं था। उन्होंने साफ कहा है : आख्या प्रवचनात्। वैदिक ग्रन्थोंमें जो नाम जुड़े हैं, वे प्रवचनके कारण ही। उन्होंने उन ग्रन्थोंका प्रवचन किया है, इसीसे उनका नाम उनके साथ जुड़ गया है, इसलिए नहीं कि उन्होंने उन ग्रन्थोंका निर्माण किया है।' इसी तरह कुछ बौद्ध कहते हैं 'कि इस प्रकार जिनकी प्रतिभामें मंत्रोंका उदय हुआ, उन ऋषियोंके यशपर प्रहार किया गया है,

उन्हें केवल तोतेकी तरह वेदोंको रट-रटकर दूसरोंको रटा देनेवाला बना दिया।'

किन्तु बौद्ध लोग यह नहीं जानते कि वेदोंमें ही वेदोंको नित्य कहा गया है : **वाचा विरूपनित्यया।** मनु, व्यास आदि ऋषियों-ने भी **अनादिनिधना नित्या, अत एवं च नित्यत्वम्** से वेदों को नित्य कहा है। साथ ही सर्वत्र ऋषियोंको 'मंत्रोंका द्रष्टा' ही कहा गया है। पूर्वोद्धृत ब्राह्मण-वचनमें भी ऋषिको 'द्रष्टा' कहा गया है। किस देश, किस कालमें किस ऋषिने किन-किन वेदमंत्रोंको बनाया है—इस तरह स्मर्यमाण न होनेपर भी अविच्छिन्न-पारंपर्येण वेदोंका अध्ययन-अध्यापन एवं तदर्थोंका अनुष्ठान चल रहा है। अतः वेदोंकी अपौरुषेयता सिद्ध है। ऐसी स्थितिमें प्रवचनके कारण ही ग्रन्थोंके साथ ऋषियोंका नाम उन ग्रन्थोंमें जुड़ा, यही मानना उचित हैं। वाल्मीकीय-रामायणके साथ वाल्मीकिका सम्बन्ध निर्माणके कारण है, यह वाल्मीकि-रामायणसे ही विदित है। अतः वहाँ अस्मर्यमाण-कर्तृकता नहीं है। वहाँ कर्तारूपसे वाल्मीकिका स्पष्ट स्मरण है। बौद्ध ऋषियों के यशविस्तारके लिए ऋषियोंको मंत्रोंके कर्ता नहीं कह रहे हैं, अपितु वेदको पौरुषेय बनाकर ऋषियोंको बुद्धके तुल्य कहकर बौद्ध-आगमोंके तुल्य वेदोंको भी पौरुषेय कहनेके निमित्त उनके यशपर प्रहार करनेके लिए ही यह अनुक्रोश प्रकट कर रहे हैं।

बौद्ध कहते हैं कि 'किसी बुद्धिमान्के लिए समझना असम्भव ही है कि वेद अपौरुषेय हैं, किसीके बनाये नहीं।' सचमुच क्षणभङ्ग-वादीके लिए यह समझना अवश्य ही असंभव है, क्योंकि उसके

यहाँ तो क्षणभङ्गवादमें सभी वस्तुएँ उत्पत्ति एवं ध्वंसवाली हैं। फिर जब उसके मतसे आत्मा या ब्रह्मतक नित्य नहीं, तो वह वेदको नित्य कैसे समझ सकता है ? किंतु जो नित्य आत्मा या नित्य ब्रह्मको मान सकते हैं, उनके यहाँ तो ईश्वरके नित्यज्ञानमें अनुविद्ध शब्दराशिके नित्य एवं अनुत्पन्न समझनेमें कुछ भी कठिनाई नहीं हो सकती। अगर शासक एवं शिष्ट अनादि हो सकते हैं, तो शासन-विधान भी अनादि क्यों नहीं हो सकते ? अगर वर्ण एवं कुछ पद भी अनादि हो सकते हैं, तो आर्ष-प्रमाणोंके आधारपर वैदिक-वाक्योंके अनादि होनेमें क्या बाधा हो सकती है ? वेदका नित्यत्ववाद कहींसे उठ खड़ा नहीं हुआ है। किंतु पीछे कहा जा चुका है कि वेदोंमें ही उनकी नित्यताकी चर्चा है।

बौद्ध लोग वेदविरोधी होनेके कारण समझनेका प्रयत्न नहीं करते और कहते हैं कि 'यदि पद एवं वाक्य भी नित्य हो सकते हैं, तो अश्वघोष एवं कालिदासके वाक्योंको नित्य न मानना और वेदवाक्यों-को नित्य मानना एक निराली ही सूझ है।' किंतु कालिदास ही क्यों, वाल्मीकि, व्यास तकके वाक्योंको निर्मित एवं अनित्य माना जाता है। यह सब किसी व्यसनके कारण नहीं, अपितु प्रमाण-परतन्त्र मान्यता है। प्रमाणोंसे अन्य वाक्योंका प्रथमोच्चरितत्वरूप निर्माण प्रमाणसिद्ध हैं। किंतु वेदका प्रथमोच्चारणरूप निर्माण असिद्ध ही है।

बौद्ध वेदोंकी अपौरुषेयताका खण्डन करनेके लिए बहुत पैर पीटते हैं। जब कुछ वश नहीं चलता, तब कहते हैं कि 'इससे बुद्धिमानोंकी बुद्धिपर पोथीका भार लादकर बुद्धिके विकासको कुण्ठित किया जाता

है। जैमिनिके पहले वेदोंके माननेकी विवशता नहीं थी। लोग राजाज्ञाके तुल्य वेदको नहीं मानते थे। उस समय लोगोंमें इतनी हिम्मत थी कि वे कह सकें कि मंत्रोंकी रचनामें कितनी ही जगह मन्त्रोंका अर्थ स्पष्ट नहीं है, कितनी ही जगह विरोध है :

अथापि विप्रतिसिद्धार्था भवन्ति।
अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति। (नि० अ० १, ख० १५)

निरुक्तकार एवं जैमिनिने इन विचारोंको पूर्वपक्षरूपमें रखा है। इससे इतना अवश्य सिद्ध होता है कि वेदको कितने ही लोग पौरुषेय मानते थे। उनमें दोष भी देखते हैं।'

किंतु बौद्धोंका यह कथन भी दुरभिसंधिमूलक ही है। वस्तुतः पूर्वोत्तर-मीमांसाकी विचार-प्रणाली ही इस ढंगकी है कि वहाँ प्रत्येक अधिकरणमें विषय, संशय, पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षका उपस्थापन करके ही सिद्धान्तका निर्णय किया जाता है। अनिवार्य रूपसे पूर्वपक्ष उठाकर ही उत्तरपक्ष और सिद्धान्तका निरूपण किया जाता है। कितने ही स्थलोंमें काल्पनिक ही पूर्वपक्ष होता है। कहीं प्रचलित मत भी पूर्वपक्ष होता है। एतावता अधिकरणोंके पूर्वपक्ष देखकर इतिवृत्तका निर्णय करना मूर्खता ही है। वस्तुतत्त्व समझनेकी सुविधासे पूर्वपक्षका उपस्थापन आज भी किया ही जाता है।

साथ ही यदि जैमिनिके पूर्व भी कुछ लोग बौद्धोंके समान वेद-विरोधी रहे हों, तो आश्चर्य भी क्यों? देवासुर-संग्राम तो संसारमें अनादि-कालसे प्रचलित रहा है। पशु-पक्षी तथा कितने जङ्गली लोग वेदको जानतेतक नहीं। कई जानते हैं, तो भी प्रमाण नहीं मानते। कई तो

उन्हें धूर्त, भण्ड और निशाचरोंकी कृति मानते हैं। पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि शिष्टों एवं आस्तिकोंकी दृष्टिमें वेद अपौरुषेय नहीं थे।

वस्तुतः अपौरुषेयताका सिद्धान्त यद्यपि अत्यन्त स्पृहणीय है, तथापि जैसे कोई लोमड़ी उछल-कूद मचानेपर भी जब अङ्गूर नहीं पाती, तो उसे खट्टा बताकर हट जाती है। इसी तरह अपौरुषेयताके सम्बन्धमें भी नास्तिकोंका नाक-भौंह सिकोड़ना है। ईश्वरवादी नैयायिक आदि वेद ईश्वरनिर्मित मानते हैं। उत्तर मीमांसक भी वेद ईश्वरनिर्मित मानते हैं, तो भी उसकी अपौरुषेयता और नित्यतामें कुछ फरक नहीं पड़ता। तो भी नैयायिकके अनुसार ईश्वरनिर्मित होनेसे वेद पौरुषेय होनेपर भी निर्दुष्ट है, कारण ईश्वरमें पुंदोष नहीं होते। उत्तर मीमांसककी दृष्टिसे ईश्वर-रचना होनेपर भी वेदमें पौरुषेयता नहीं आती, क्योंकि नैयायिकके अनुसार वेद ईश्वरबुद्धिसे निर्मित होते हैं, किंतु उत्तर मीमांसकके अनुसार ईश्वर पूर्वकल्पकी आनुपूर्वीका केवल स्मरणकर उपदेश करता है। आनुपूर्वीमें रद्दोबदल ईश्वर भी नहीं कर सकता। इसीलिए वेदका कोई भी उच्चारण प्रथमोच्चारण नहीं होता ईश्वर भी पूर्व-पूर्व कल्पके अनुसार उत्तर-उत्तर कल्पमें आनुपूर्वीका उच्चारण करता है।

'पुत्रेष्टि करनेपर भी पुत्रोत्पत्ति नहीं होती, अतः वेदकी बातें झूठी भी हो सकती हैं,' आदि पूर्वपक्षोंका उपस्थापनकर नैयायिकोंने उनका उत्तर दिया है। उस बातको ठीक से समझनेका प्रयत्न न करनेके कारण बौद्ध अनेक तरहके प्रलाप करते हैं। वस्तुतः जितने ढङ्गके पूर्वपक्ष हो सकते हैं, वैदिकोंने स्वयं उपस्थापनकर उनका निराकरण किया है।

बौद्ध कहते हैं : 'सांख्योंने कपिलको सर्वज्ञ मानकर भी उसको वेदानुकूल कहकर कपिलकी बुद्धिका अपलाप किया। कपिलको एक स्वतंत्र विचारक न मानकर वेदकी बातोंको दुहरानेवाला बना दिया।' वस्तुतः यह भी बौद्धोंका अविवेक ही है। इससे उल्टा यही सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ कपिल भी वेदोंके विपरीत न बोलकर वेदका ही समर्थन करते हैं।

बौद्ध यह मानते हैं कि 'सांख्य वैदिकताका ममत्व नहीं छोड़ सके।' वस्तुत: कोई भी आस्तिक वैदिकताका ममत्व कैसे छोड़ सकता है? वस्तुतः जैन एवं बौद्ध भी अपने-अपने आचार्यको सर्वज्ञ कहते हैं, फिर भी सर्वसम्मत सर्वज्ञता किसीकी भी सिद्ध नहीं होती। इसीलिए मीमांसक अपौरुषेय वेदपर ही विश्वास करते हैं। जैनोंने अपने आचाराङ्ग-सूत्रमें केवल जिनको सर्वज्ञ एवं सर्वपदार्थोंका द्रष्टा कहा है। (गाथा १२७)। किंतु बौद्धोंने जिनकी सर्वज्ञताका मजाक उड़ाया है। सन्दकसूत्र (७६) में कहा है : 'एक शास्ता सर्वज्ञ होनेका दावा करते हैं। वे सूने घरमें जाते हैं, जहाँ भिक्षा भी नहीं पाते, कुकुर भी काट खाता है, गाँव-कस्बेका नाम और रास्ता भी पूँछते हैं।'

बौद्धोंमें कुछ लोग बुद्धको सर्वज्ञ कहते हैं और कुछ लोग कहते हैं कि वे जो जानना चाहते हैं, वह जान सकते हैं :

यद्यदिच्छति बोद्धुं वा तत्तद् वेत्ति नियोगत:।
शक्तिरेवंविधा तस्य प्रहीणावरणो यत: ॥

स्पष्ट है, जब बुद्ध सर्वज्ञ या धर्मज्ञ हो सकते हैं, तो जिन क्यों नहीं हो सकते? और फिर व्यास, वशिष्ठ, मनु, कणाद, गौतम, कपिल भी सर्वज्ञ

क्यों नहीं हो सकते ? यदि सभी सर्वज्ञ हैं, तो उनमें मतभेद भी नहीं होना चाहिए। सर्वज्ञोंका मतभेद ही उनकी असर्वज्ञता सिद्ध करता है। अपने अनुयायियोंकी दृष्टिसे सभी सर्वज्ञ हैं, किंतु सर्वसम्मतिसे कोई भी सर्वज्ञ नहीं है। अतएव स्वाभाविक, अकृत्रिम अपौरुषेय वेदके आधारपर ही धर्माधर्मके निर्णयकी व्यवस्था उचित है। अतएव गौतम, कणाद, प्रशस्तपाद आदि सभी दार्शनिक एवं ऋषि लोग वेदप्रामाण्यका आदर करते हैं।

कणाद एवं गौतम आदिके सम्बन्धमें वेदविरोधी बौद्धों एवं जैनोंके ग्रन्थोंमें जो कुछ भी कल्पनाएँ की गयी हैं, वे निरी मनगढ़न्त हैं। यह कहना कि गौतम एवं कणादने ईश्वरकी चर्चा नहीं की, अनभिज्ञता है। सूत्रोंमें अनेक गंभीर अर्थोंकी सूचना होती है। जब गौतम एवं कणादने वेदके अप्रामाण्यके सम्बन्धमें पूर्वपक्ष कर सिद्धान्तपक्षसे वेदप्रामाण्यका व्यवस्थापन किया है। साथ ही आप्तोपदेश रूपसे ही उनके यहाँ वेदोंका प्रामाण्य मान्य है। अतएव **तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्** (१।१।२) सूत्रके 'तत्' शब्दसे ईश्वरका ही ग्रहण है। लोकमें प्रसिद्ध होनेसे तत्-पद ईश्वरका बोधक होता है। शिष्टोंमें ॐ तत् सत् ये तीनों शब्द ब्रह्मके निर्देशक माने जाते हैं : **ओम्तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।**

बौद्ध यहाँ अर्थका अनर्थ करते हुए कहते हैं : 'पूर्वमें यतोऽभ्युदयसिद्धिः इस पूर्वसूत्रमें धर्मका प्रसङ्ग चला है, अतः तत्-शब्दसे उस धर्मका ही ग्रहण होना ठीक है।' किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मका कथन तो बौद्धागममें भी है, तो भी गौतम, कणाद आदिकोंको वह प्रमाण

रूपसे मान्य नहीं है। उनके यहाँ तो आप्तोपदेशका ही प्रामाण्य है। अतः आप्त एवं ईश्वरके द्वारा उक्त होनेसे आगमका प्रामाण्य सिद्ध होता है। अतएव प्रशस्तपाद आदिने जैसे व्याख्या की, सूत्रोंका वैसा ही अर्थ समझना चाहिए।

अपौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्—इस सांख्यसूत्र (२।४६) में सांख्यमतानुसार वेदकर्ता पुरुषका अभाव होनेसे वेदको अपौरुषेय ही कहा है। बौद्ध कहते हैं कि ये सूत्र कपिलके नहीं हैं। किसीने उनके नामसे गढ़ दिये हैं। किन्तु इसी तरह यह भी तो कहा जा सकता है कि बुद्धका अपना कोई ग्रन्थ तो है ही नहीं। पीछेसे बौद्धों ने बुद्धके द्वारा वेद एवं वर्णाश्रम धर्म आदिके विरुद्ध बहुत ही बातें गढ़ दी हैं।

बौद्ध कहते हैं कि 'बौद्धधर्ममें कायिक सदाचारोंपर बहुत जोर दिया गया है। बुद्धसे पहले ऋषि-मुनि भी यौनसम्बन्ध कोई दोष नहीं समझते थे। इसी सम्बन्धमें उन्होंने छान्दोग्यकी वामदेव्योपासनाकी चर्चा की है। 'यज्ञके लिए पशुओंका वध एवं मदिराका प्रयोग होता था। बुद्धने इसके विरुद्ध उपदेश दिया था।' किन्तु 'संस्कृतिके चार अध्याय' में दिनकरने तो इससे उल्टा ही कहा है। उसमें कहा गया है कि भिक्षुओंमें बौद्धधर्मसे ही वाममार्गका प्रवेश हुआ। बौद्धोंमें बाल्यावस्थामें ही भिक्षु एवं भिक्षुणी बना ली जाती थीं। उन्हे विषयभोगकी वासना बनी रहती थी। उसीकी तृप्तिके लिए लिङ्ग-योनिपूजाका प्रचलन हुआ।

वज्रयानी बौद्धोंने सब कुछ शून्य है, ऐसा कहा है। फिर तो सदाचार भी शून्य समझकर बौद्ध भिक्षुओंकी मद्य, मांस, मैथुन आदि सेवनमें प्रवृत्ति हो गयी :

सर्वकामोपभोगैश्च, सेव्यमानैर्यथेच्छतः।
अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात्॥
दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्धयति।
सर्वकामोपभोगांश्च सेवयंश्चाशु सिद्ध्यति॥

(गुह्यसमाज, पृ० २७)

अर्थात् सर्वकामोपभोगसे ही सिद्धि मिल जाती हैं। दुष्कर नियमोंसे जो सिद्धि नहीं होती, वह कामोपभोगसे मिल जाती है।

तथा तथा प्रवर्तेत, यथा न क्षुभ्यते मनः।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन॥

(प्रज्ञोपाय-विनिश्चय ५।४०)

अर्थात् कामोपभोग-लिप्सामें चित्तक्षोभ होता है, अतः क्षोभ भी न हो, भोगासक्ति भी न हो; इसके लिए मध्यमार्ग यही था कि एक सीमाके भीतर विषयों का उपभोग कर लिया जाय।

बौद्धोंका कहना है कि 'कार्य कारणसे न अनन्य है, न अन्य ही है। जैसे अङ्कुर न तो बीज ही हैं और न बीजसे भिन्न ही हैं। कार्यको कारणसे अन्य माननेपर कारणका उच्छेद मानना पड़ता है तथा अनन्य माननेपर कारणका शाश्वतवाद उपस्थित हो जाता है। अतः लोकायतके उच्छेदवाद एवं आत्मवादियोंके शाश्वतवादसे बचनेके लिए कारणसे कार्यको बौद्ध अन्य एवं अनन्य भी नहीं मानते। किन्तु इस पक्षमें यह पूछा जा सकता है जब कि वह अन्य नहीं और अनन्य भी नहीं, तो फिर क्या है? फिर तो इसी तरह सत् भी नहीं, असत् भी नहीं, यह भी कहना पड़ेगा। एवञ्च वेदान्तियोंका 'अनिर्वचनीय-वाद'

उपस्थितहो जाय गा अथवा जैनोंके 'अनेकान्त-वाद' में ही यह बौद्धवाद निहित हो जायगा।

बौद्ध कहते हैं कि 'सांख्योंने पहले-पहल संख्या करके अपने तत्त्वोंका निर्देश किया, अतः 'सांख्य' कहलाये।' किन्तु संख्या तो बहुत लोगोंने बतलायी, फिर अन्य दार्शनिकोंका नाम' 'सांख्य' क्यों नहीं पड़ा? वस्तुतः 'सम्यक्' ख्यायेते आत्मनात्मानौ अनया इति संख्या=आत्मानात्मविवेकबुद्धिः; तामर्हन्तीति सांख्याः'–सम्यक् आत्मा-अनात्माकी विवेकख्यातिका सम्मान करनेवाले दार्शनिक 'सांख्य' कहलाते हैं। आत्मानात्म-विवेकख्याति' ही संख्या है।

नागार्जुनके मतानुसार 'प्रतीत्य समुत्पाद' 'अशाश्वत अनुच्छेदवाद' उपस्थित करता है। परिणामके पीछे परिवर्तनकी ओटमें नित्यता देखना या अनित्यता देखना दोनों किनारेकी बातें हैं—एकान्तवाद है; क्योंकि नित्यता देखना शाश्वतवाद मानना है, अनित्यता देखना उच्छेदवाद मानना है। प्रत्युत नित्यानित्यविनिर्मुक्त शून्यवाद माननेमें ही मध्यमा-प्रतिपत्ति है। परन्तु इससे बौद्धवाद अनेकान्तवादमें विलीन हो जाता है। अस्तु, बौद्धोंके अनुसार संसार स्वप्न एवं इन्द्रजालके तुल्य है। वह न सत् है, न असत्।

बौद्ध कहते हैं: 'बौद्धोंका विज्ञान-स्कन्ध आत्माके समकक्षका है, वह भी परिणामी है। बादरायणने ब्रह्मको परिणामी माना है: आत्मकृतेः परिणामात्। परन्तु शङ्कराचार्यने उस परिणतिको मिथ्या बताकर 'विवर्त' बतलाया। परिणामके मिथ्या हो जानेसे नित्यताको किसीसे डर नहीं रहा। शून्यवादी कहते हैं: परिणाम न नित्यसे सम्बन्ध रखता है, न

उच्छेदसे, अपितु अशाश्वत अनुच्छेद शून्यवादसे ही सम्बन्ध रखता है।'

वस्तुतः शङ्कराचार्यके अनुसार मायाविशिष्ट ब्रह्मको परिणामी माननेका अर्थ है मायाका परिणामिनी होना। इस दृष्टिसे जगत्के आकारसे परिणम्यमाना मायाका अधिष्ठान होनेसे ही ब्रह्म जगत्का उपादान है। सविशेषणमें जो विधि-प्रतिषेध है, वह विशेषणमें ही पर्यवसित होता है। 'कुण्डली जातः, शिखी ध्वस्तः' यहाँ उत्पत्ति एवं ध्वंस विशेषणभूत कुण्डल एवं शिखामें ही पर्यवसित होता है। केवल ब्रह्म कूटस्थ ही है।

आधुनिक बौद्ध कहते हैं कि 'शङ्कराचार्यके समय बौद्ध-साहित्य पूर्णरूपसे उपलब्ध नहीं था। किन्तु आज पहलेसे अधिक बौद्ध-साहित्य उपस्थित हैं। इसीलिए शङ्कराचार्यने शून्यवादको ठीकसे नहीं समझा। तभी बुद्धको असंबद्धालापी तथा लोकद्वेषी कहा है।' कहा जाता है बौद्धग्रन्थोंमें जिस अशाश्वत अनुच्छेदवादकी पदे-पदे चर्चा है, उसे पूर्वपक्ष रूपमें ब्राह्मण एवं जैन-दर्शनोंने छुआतक नहीं। प्रत्युत सर्वत्र बुद्धको उच्छेदवादी, अभाववादी कहा गया है। शङ्कराचार्यने स्पष्ट कहा है कि बुद्ध अभावसे भावकी उत्पत्ति मानते हैं। इसीलिए बौद्धोंको वैनाशिक भी कहते हैं, यद्यपि बौद्धोंने उच्छेद माननेसे साफ इनकार किया है। अतः स्पष्ट है कि बौद्धमत सम्यक् रूपमें उपस्थापित नहीं किया गया है। प्रतीत्य समुत्पादका अर्थ ही है : हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पादः।

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् ।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥
यः प्रतीत्य समुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम् ।
देशयामास सम्बुद्धस्त वन्दे वदतां वरम् ॥

बौद्ध यह भी कहते हैं कि 'कर्म एवं उसके फलको वैदिक, बौद्ध एवं जैन तीनों मानते हैं। वैदिकोंके अनुसार कर्मफल-निर्णय ईश्वरीय नित्य-ज्ञानानुविद्ध वेदोंके आधारपर होता है तो 'जैनों', बौद्धोंके यहाँ जिन एवं बुद्धके वचनोंके आधारपर। वैदिकोंके यहाँ कर्मफलदाता ईश्वर है, अवैदिकोंके यहाँ जड कर्म ही फलदाता है। सूक्ष्म विचार करनेपर मीमांसक एवं सांख्य भी इसके अपवाद नहीं हैं।'

वस्तुतः शङ्कराचार्यके विचारोंको पूर्णरूपसे न समझकर ही बौद्ध उनपर अल्पज्ञताका दोष लगाते हैं। बुद्धका अशाश्वत अनुच्छेद-वाद परिणामवादमें ही पर्यवसित होता है। उसका खण्डन शङ्कराचार्यने पूर्ण रूपसे कर ही दिया है। इसी तरह 'न एकान्त उच्छेद, न एकान्त शाश्वत तत्त्व है' इस पक्षका खण्डन उन्होंने नैकस्मिन्नसंभवात् इत्यादि रूपसे अनेकान्तवाद-खण्डनके प्रसङ्गमें कर ही दिया हैं। जैनोंने अपने ग्रन्थोंमें यह कहा ही है कि बौद्धोंकी मध्यम-प्रतिपदा अनेकान्तवादमें ही पर्यवसित होती है। इसके अतिरिक्त जब बौद्ध सभी वस्तुओंको क्षणिक, क्षण-प्रध्वंसी मानते ही हैं, तो फिर ध्वंस और उच्छेद - अभाव हरएक पदार्थका मानना ही पड़ता है। ध्वंस भी उनके यहाँ सान्वय न होकर निरन्वय ही होता है। यदि सान्वय नाश माना जाय, तब तो कार्यमें कारणका जो अन्वयी रूप अनुगत होगा, वह अक्षणिक ही हो जायगा। फिर क्षणभङ्ग-भङ्ग प्रसङ्ग होगा ही। नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् इसी तर्कके आधारपर तो सभी वस्तुओंकी क्षणिकता सिद्ध की जाती है।

यदि नित्य कूटस्थ कारण माना जाय, तो उससे कार्य बन ही नहीं सकता—यह बौद्धोंका घोष है:

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्येवास्ति तत्फलम् ।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेद् सत्समः ॥

वस्तुतः अनुच्छेद, अशाश्वतवादका इतना ही मतलब है कि सब कुछ शून्य है और शून्य न उच्छेद है, न शाश्वत। उच्छेद कहनेसे अभाव-रूपता हो सकती थी, परन्तु शून्य कोटिचतुष्टयविनिर्मुक्त रूपसे बौद्धों-को मान्य है। वह न भाव है, न अभाव है, न उभयरूप है, न अनुभयरूप है॥ उसीके सम्बन्धमें यह भी कहा जाता है कि वह न एक है, न अनेक है, न निरोध है, न उत्पाद है, न आगम है, न निर्गम है। इतना ही नहीं, शून्यमें भी अभिनिवेश सर्वथा त्याज्य है। इस तरह जैसे वेदान्ति-योंका ब्रह्म कोटिचतुष्टयविनिर्मुक्त होते हुए सत्-स्वरूपमें ही पर्यवसित होता है, वैसे ही बौद्धोंका शून्य सदसदादि - कोटिचतुष्टयमुक्त होनेपर भी असत्में ही पर्यवसित होता है। इसीलिए कथमसतः सज्जायते इत्यादि श्रुतियोंने संभावित असद्वादका निराकरण किया है। उपर्युक्त प्रपञ्चो-पशमं शिवम् आदि शब्दोंके ही आधारपर कई बौद्धोंने यह भी कहना आरम्भ कर दिया कि उपनिषदोंकी ब्रह्म जैसी वस्तु ही शून्य भी कूटस्थ नित्यात्मस्वरूप ही है। परन्तु वस्तुतः यह वेदान्तके सामने बौद्धोंकी पराजय स्वीकार करना ही है।

बौद्ध प्रतिसंख्यानिरोध एवं अप्रतिसंख्यानिरोध भेदसे दो प्रकार-का निरोध मानते हैं। बुद्धिपूर्वक निरोध प्रतिसंख्यानिरोध है, निर्हेतुक निरोध अप्रतिसंख्या निरोध। हर पदार्थका निर्हेतुक नाश मान्य होनेसे ही प्रत्येक पदार्थकी क्षणभङ्गता सिद्ध होती है। फिर भी वैनाशिक नामसे आजकलके बौद्ध घबड़ाते हैं, यह पराजयकी ही मनोवृत्ति

है। धर्मकीर्तिने भी कहा है कि विनश्वर वस्तु अपने नाशमें किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं रखती :

अहेतुत्वाद्विनाशस्य स्वभावोऽनुबन्धिता।

वस्तुतस्तु प्रकाशमानत्व ही सत्त्व है। प्रकाशमानता प्रकाशरूप होनेपर भी होती है और प्रकाशसंसर्गसे भी। प्रकाशस्वरूप आत्मा में प्रकाश रूप होनेसे प्रकाशमानताका व्यवहार होता है। परन्तु अनात्मामें प्रकाशस्वरूप आत्माके संसर्गसे प्रकाशमानताका व्यवहार होता है। इसीलिए स्वतःप्रकाशमें निरपेक्ष सत्ता होती है। तद्भिन्नमें अधिष्ठान-सत्तासापेक्ष ही सत्त्व होता है। यदि अर्थक्रियाकारिताको सत्त्व माना जायगा, तो प्रश्न होगा कि अर्थक्रियामें सत्त्व सिद्ध करनेके लिए यदि अर्थक्रिया मानी जाय, तो अनवस्था दोष होगा। यदि अन्य अर्थक्रियाके बिना भी अर्थक्रियामें सत्त्व माना गया, तो अर्थक्रिया ही सत्त्व है,-यह नहीं कहा जा सकता।"

इस तरह बौद्धोंके कितने ही आपाततरमणीय दार्शनिक सिद्धान्तोंका वैदिक शास्त्रकारों एवं आस्तिक दार्शनिकोंने युक्ति एवं प्रमाणों द्वारा भलीभाँति खण्डन कर दिया है। उन सबका यहाँ उल्लेख न करना न संभव है और न आवश्यक ही। संकेत रूपमें कुछ बातें यहाँ दिखा दी गयी हैं। राहुलजी जैसे तथाकथित बौद्धों को प्रथम अपने बौद्धग्रन्थों का मनन करना चाहिए। फिर उनका खण्डन करनेवाले दार्शनिकों की उक्तियों का रहस्य समझना चाहिए। उसके बाद ही कलम उठाना कुछ अर्थ रख सकता है। अन्यथा उनका आजका यह प्रयत्न 'राहुलजीकी भ्रान्ति' ही कहा जायगा।

गीताधर्म प्रेस मिश्रपोखरा, वाराणसी। फोन नं० ७४३